



प्रार्थना एवं ध्यान

20 जून, 1914

हे भगवान्! तू समस्त प्रेम और समस्त ज्योति का मूल स्रोत है; हम तेरा स्वरूप तो नहीं जान सकते, पर हम उसे क्रमशः अधिक पूर्ण और अखंड रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं; तुझे हम अपने चिंतन द्वारा तो नहीं पकड़ सकते, पर हम गंभीर नीरवता में तेरे समीप पहुँच सकते हैं। हे प्रभु! तुझे अपने अपरिमेय दानों की मात्रा पूर्ण करनी होगी, हमारी सहायता के लिए तुझे आना होगा जब तक कि हम तेरी विजय अधिगत नहीं कर लेते.....।

उस सत्य प्रेम को उत्पन्न कर जो सभी कष्टों का शमन करता है; उस अचल अटल शांति को स्थापित कर जिसमें निवास करती है सच्ची शक्ति; प्रदान कर हमें परम ज्ञान जो समस्त अंधकार का विनाश कर देता है.....।

22 नवंबर, 1913

तेरे सामने नीरवता में बीते कुछ ही क्षण सुख की सदियों के समान होते हैं....।

प्रभु, ऐसी कृपा कर कि सब अंधकार छिन्न-भिन्न हो जाय और मैं, अधिकाधिक स्थिरता और प्रसन्नता के साथ तेरी सच्ची सेविका बन सकूँ; मेरा हृदय तेरे सामने स्वच्छ स्फटिक-सा निर्मल रहे जिससे यह सारे-का-सारा तुझे पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित कर सकें।

ओह, कैसा मधुर है तेरे सम्मुख नीरवता में रहना...।



1. Silence (नीरवता)
2. Passiflora Incarnata (Royal Purple)
3. The ideal condition for progress, Rich, Profound, Multiple.
4. प्रगति के लिए आदर्श अवस्था, सम्पन्न, गंभीर, बहुविध

—श्रीमाँ

अचंचलता

‘भागवत् शक्ति’ केवल शांति और अचंचलता में ही अपने—आपको प्रकट करती और कार्य करती है।

(26 जून, 1967)

*

अचंचल रहो। हमें किसी भी चीज से क्षुब्ध हुए बिना धीरज के साथ काम किये जाना है और अनिवार्य ‘विजय’ पर अटल, अचल श्रद्धा रखनी है।

*

अचंचलता, स्थिर और एकाग्र बल, इतना अचंचल कि कोई चीज उसे हिला न सके—यह पूर्ण सिद्धि के लिये अनिवार्य आधार है।

*

अचंचलता में तुम अनुभव करोगे कि भागवत शक्ति, सहायता और संरक्षण हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

*

तुम्हें जो एकमात्र चीज करनी है वह है : अचंचल रहो, विक्षुब्ध न होओ, एकमात्र भगवान् की ओर मुड़े रहो। बाकी सब ‘उनके’ हाथों में है।

(17 जुलाई, 1935)

*

करने लायक सबसे अच्छा काम यही है : अचंचल रहो, दिव्य अवतरण की ओर खुलो, उसे पुकारो या उसकी प्रतीक्षा करो।

*

स्थिरता

हमेशा स्थिर और शांत रहने के बारे में बहुत सावधान रहो और संपूर्ण समचित्तता को अधिकाधिक पूर्णता के साथ अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होने दो। अपने मन को बहुत ज्यादा सक्रिय होकर हो—हल्ले और विक्षोभ में न रहने दो, चीजों के ऊपरी आभास से ही परिणामों तक न जा पहुंचो। जल्दबाजी न करो, एकाग्र होकर स्थिरता में ही निश्चय करो।

*

शांति

अगर तुम्हारे अपने हृदय में शांति न हो तो तुम उसे और कहीं भी न पा सकोगे।

*

हमारे हृदय की नीरवता में हमेशा शांति और आनन्द का निवास होता है।

(27 मई, 1954)

*

तुम शांति और आंतरिक नीरवता में, सतत दिव्य उपस्थिति के बारे में अधिकाधिक सचेतन होओगे।

*

शुद्ध मन की शांति से बढ़कर कोई और शांति नहीं है।

*

मन को दिलासा : नीरव शांति।

*

शांत नीरवता में फिर से बल स्थापित हो सकता है।

(18 जून, 1954)

*

विशाल शांति और स्थिरता मौजूद हैं, वे तैयार हैं कि तुम उनके प्रति खुलो और उन्हें ग्रहण करो।

*

नीरवता

आओ, हम गहरी नीरवता में पूजा करें और गहरी एकाग्रता में भगवान् की वाणी सुनें।

(15 अक्टूबर, 1954)

*

चिन्तन की पूर्ण नीरवता में सब कुछ अनन्तता में फैलता जाता है और उस नीरवता की पूर्ण शांति में भगवान् 'अपनी' देदीप्यमान भव्यता के साथ प्रकट होते हैं।

(27 अक्टूबर, 1954)

*

हमें एकाग्रता और नीरवता में समुचित कार्य के लिये शक्ति जुटानी चाहिये।

(8 नवंबर, 1954)

*

कुछ नीरवताएं अंतः प्रकाश होती हैं और शब्दों की अपेक्षा अधिक अभिव्यक्तिशील होती हैं।

*

नीरवता में ही अन्तरात्मा अपने-आपको सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकती है।

(7 जून, 1958)

*

भगवान् के साथ पूर्ण तादात्म्य की नीरवता में सच्ची समझ प्राप्त होती है।

(अक्टूबर, 1961)

*

कभी-कभी हम शब्दों द्वारा समझ सकते हैं परंतु जानते नीरवता में ही हैं।

*

नीरवता : सत्ता की वह अवस्था जब वह भगवान् की बात सुनती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड-14, पृ. 140, 141, 144, 145

अचंचलता, स्थिरता, शान्ति तथा निश्चल-नीरवता

शान्ति, स्थिरता, अचंचलता, निश्चल-नीरवता – इनमें प्रत्येक शब्द का अपना-अपना भावार्थ है। किन्तु उन्हें परिभाषित करना आसान नहीं।

1. अचंचलता – क्वायट (Quiet)
2. स्थिरता – काम (Calm)
3. शान्ति – पीस (Peace)
4. निश्चल-नीरवता-सायलेंस (Silence)

अचंचलता एक ऐसी अवस्था है जिसमें कोई बेचैनी अथवा क्षुब्धता नहीं होती।

स्थिरता निश्चेष्ट अचल अवस्था है जिसे कोई उपद्रव प्रभावित नहीं कर सकता। यह अचंचलता से कम नकारात्मक अवस्था है।

शान्ति उससे भी अधिक सकारात्मक अवस्था है। इसमें निहित है एक स्थापित तथा सामंजस्यपूर्ण विश्रान्ति तथा मुक्ति का भाव।

निश्चल –नीरवता एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन, प्राण की कोई गतिविधि नहीं होती अथवा ऐसी गंभीर अचलता होती है जिसमें कोई सतही हलचल प्रवेश नहीं कर सकती।

पहला कदम है अचंचल मन – निश्चल-नीरवता अगला कदम है किन्तु अचंचलता वहाँ अवश्य होनी चाहिये और अचंचल मन से मेरा तात्पर्य है एक ऐसी आन्तरिक मानसिक चेतना जो विचारों को अपने पास आते हुए और घुमते फिरते हुए देखती है किन्तु यह स्वयं महसूस नहीं करती कि यह सोच रही है अथवा विचारों के साथ तदात्म हो रही है अथवा उन्हें अपने विचार मानती है। विचार, मानसिक गतिविधियाँ इसमें से गुजर सकती हैं जैसे बटोही शान्त प्रदेश में से होकर निकल जाते हैं। अचंचल मन या तो उनका प्रेक्षण कर सकता है या उन्हें देखने की परवाह नहीं करता। किसी भी हालत में वह सक्रिय नहीं होता और अपनी अचंचलता को बनाये रखता है। निश्चल-नीरवता अचंचलता से कहीं ऊपर की स्थिति है। इसे प्राप्त करने के लिए आन्तरिक मन से विचार को बिल्कुल निष्कासित करना पड़ता है, बिल्कुल बाहर या उसे मौन रखना पड़ता है। किन्तु ऊपर से अवतरण द्वारा इसे आसानी से स्थापित किया जा सकता है – व्यक्ति इसे नीचे आते हुए, व्यक्तिगत चेतना को अधिकृत या चारों ओर से घेरते हुए महसूस करता है जो अपने को विशाल निर्व्यक्तिक नीरवता में विलीन कर देना चाहती है।

अचंचलता तब आती है जब मन या प्राण कष्ट में नहीं होता, बेचैन नहीं रहता, विचारों तथा भावनाओं से आकर्षित या भरा हुआ नहीं होता। विशेष रूप से जब ये दोनों अनासक्त रहते हैं और विचारों तथा भावनाओं को सतही गति के रूप में देखते हैं तब हम कहते हैं कि मन या प्राण अचंचल है।

स्थिरता अधिक सकारात्मक अवस्था है, न केवल बेचैनी, बल्कि अधिक सक्रियता या विक्षुब्धता का अभाव। जब शान्ति स्पष्ट, अत्यधिक या सुदृढ़ हो जिसे कुछ भी विचलित न कर सके, तब हम कहते हैं कि स्थिरता हो गई है।

एक रिक्त मन या विचार –शून्य मन तथा स्थिर मन में अन्तर यह है : जब मन रिक्त रहता है तब विचार नहीं आता, कोई धारणा नहीं बनती, किसी प्रकार की मानसिक क्रिया

नहीं होती, केवल निर्मित धारणा के बिना चीजों का तात्त्विक बोध रहता है। परन्तु स्थिर मन में मानसिक सत्ता का उपादान ही निष्क्रिय रहता है, इतना निष्क्रिय कि इसे कुछ भी विचलित नहीं करता। यदि विचार अथवा गतिविधियाँ होती हैं तब वे मन से बिल्कुल नहीं उठती, वरन् वे बाहर से आती हैं तथा वे मन में से इस प्रकार गुजरती हैं जैसे उड़ते हुए पक्षी निर्वात आकाश में से बिना कोई चिन्ह छोड़े बिना हलचल उत्पन्न किये गुजर जाते हैं। यदि हजारों छवियों या भावनाएं अथवा हिंसात्मक घटनाएं भी वहां से गुजर जायें तब भी स्थिर निष्क्रियता इस प्रकार बनी रहती है मानों मन की संरचना एक शाश्वत तथा अनश्वर शान्ति के तत्व से हुई हो। जिस मन ने ऐसी स्थिरता उपलब्ध कर ली है वह तीव्रता के साथ सशक्त रूप से भी मौलिक निष्क्रियता को बनाये रखते हुए इस प्रकार क्रियाशील हो सकती है कि अपनी ओर से कुछ न उत्पन्न करे बल्कि ऊपर से ग्रहण कर उसे एक मानसिक रूप दे और स्थिर तथा अनासक्त भाव के साथ-साथ सत्य की प्रसन्नता व इसके मार्ग की प्रसन्नचित शक्ति व ज्योति को बनाये रखे।

शान्ति स्थिरता से अधिक सकारात्मक है, स्थिरता नकारात्मक भी हो सकती है जिसमें व्याकुलता अथवा कष्ट की केवल अनुपस्थिति रहती है। किन्तु शान्ति हमेशा कुछ सकारात्मक होती है जो न केवल स्थिरता की तरह मुक्ति लाती है बल्कि अपनी कुछ प्रसन्नता अथवा अपना आनन्द भी लाती है।

सकारात्मक स्थिरता भी होती है जो व्याकुलता लाने वाली चीजों को रोकती है, नकारात्मक स्थिरता के समान क्षीण तथा निष्पक्ष नहीं, बल्कि सुदृढ़ तथा प्रभावशाली होती है।

शान्ति में निष्क्रियता के बोध के अतिरिक्त एक सामंजस्य होता है जो मुक्ति व पूर्ण सन्तुष्टि की अनुभूति देता है।

निस्सन्देह। सतही चेतना में विक्षुब्धता के बावजूद आन्तरिक सत्ता में सुदृढ़ शान्ति की अनुभूति बिल्कुल सामान्य बात है। वास्तव में पूरी सत्ता में पूर्ण समता की सिद्धि से पूर्व योगी की सामान्य स्थिति यही रहती है।

जब सत्ता में सर्वत्र, शान्ति पूर्ण रूप से स्थापित हो जाती है तब निम्न प्राण की प्रतिक्रियाएं इसे हिला नहीं सकती। पहले वे सतह पर छोटी लहरों की तरह आ सकती हैं, फिर केवल सुझाव के समान जिसे व्यक्ति देख सकता है या अन्देखा कर सकता है, किन्तु किसी भी अवस्था में वे बिल्कुल न अन्दर प्रवेश कर सकती हैं न कोई प्रभाव डाल सकती हैं और न कोई बाधा उपस्थित कर सकती हैं।

समझना मुश्किल है फिर भी यह कुछ एक पर्वत के समान है जिस पर कोई पत्थर फेंके। यदि पर्वत पूरी तरह सजग हो तब वह पत्थरों का स्पर्श अनुभव कर सकता है परन्तु वह इतना नाम मात्र का या सतही होगा कि उसका असर कुछ न होगा। अन्त में वह प्रतिक्रिया भी नहीं होगी।

जब मन नीरव हो जाता है तब शान्ति आ जाती है और शान्ति में वे सभी चीजें, जो दिव्य हैं, आ सकती हैं। जब मन नहीं होता तब आत्मा रहती है जो मन से महानतर है।

मन के लिए नीरव, निष्क्रिय विचारों से मुक्त होना अवांछनीय चीज नहीं है—क्योंकि हमेशा ही मन की नीरव अवस्था में ऊपर से विशाल शान्ति का पूर्ण अवतरण होता है और उस विशाल शान्ति में नीरव ब्रह्म, जो मन के ऊपर होता है, सर्वत्र विशालता में फैल जाता है। केवल, जब शान्ति तथा मानसिक नीरवता होती है, तब प्राणिक मन उस स्थान को

भरने का प्रयास करता है अथवा यांत्रिक मन तुच्छ अभ्यस्त विचारों का सिलसिला उठाने का प्रयत्न करता है। साधक को सावधानीपूर्वक इन बाहरी तत्त्वों को इनकार करना और शान्त रखना चाहिये, जिससे कम से कम ध्यान के समय मन व प्राण की शान्ति और अचंचलता सम्पूर्ण हो सके। इसे सर्वोत्तम रीति से तभी किया जा सकता है जब तुम एक दृढ़ तथा नीरव संकल्प बनाये रखो। वह संकल्प मन के पीछे पुरुष का संकल्प होता है। जब मन में शान्ति होती है, जब नीरवता होती है तब व्यक्ति पुरुष के प्रति सचेतन हो सकता है जो प्रकृति की क्रिया से पृथक रहता है।

यह एकदम तुरन्त सम्भव नहीं है कि स्वाभाविक नीरव अवस्था हमेशा के लिए बनी रहे परन्तु व्यक्ति में तब उसकी वृद्धि होती रहनी चाहिये तब तक सतत आन्तरिक नीरवता—ऐसी नीरवता जो किसी बाहरी गतिविधि या आक्रमण या बाधा से भी विक्षुब्ध न हो — न आ जाये।

तुमने जिस अवस्था का वर्णन किया है उससे इस आन्तरिक नीरवता की वृद्धि स्पष्ट मालूम होती है। अन्ततः इसे अपने आपको समस्त आध्यात्मिक अनुभूति तथा गतिविधि के आधार के रूप में स्थायी बनाना है। यदि व्यक्ति को नीरवता के पीछे अन्दर की क्रिया की जानकारी न हो तब भी कोई बात नहीं

क्योंकि योग में दो अवस्थाएं होती हैं, एक वह जिसमें सब कुछ नीरव हो जाता है और औरों की तरह बाह्य क्रिया करते समय भी विचार, भावना या कोई गति नहीं होती। दूसरी अवस्था वह है जिसमें एक नई चेतना सक्रिय हो जाती है जो अपने साथ ज्ञान, आनन्द, प्रेम तथा अन्य आध्यात्मिक अनुभूतियाँ व आन्तरिक गतिविधियाँ लाती है, परन्तु साथ साथ मौलिक नीरवता या अचंचलता बनी रहती है। आन्तरिक सत्ता के विकास में दोनों आवश्यक हैं। पूर्ण नीरव स्थिति, जिसमें हलकापन, खालीपन तथा मुक्ति का भाव होता है, दूसरी अवस्था को तैयार करती है और जब वह आती है तब उसे अवलम्ब प्रदान करती है।

अचंचलता बनाये रखो और इसकी परवाह न करो यदि कुछ समय के लिए यह रिक्त अचंचलता हो। चेतना प्रायः एक पात्र के समान होती है जिसमें से मिश्रित वस्तुएं या अवांछित वस्तुएं निकाल कर उसे खाली करना होता है। और कुछ समय के लिए उसे तब तक खाली रखना पड़ता है जब तक उसे नयी और सच्ची, सही और शुद्ध वस्तुओं से भरा न जाये। एक चीज़ जिसे सावधानी से बचना चाहिये वह यह है कि प्याले को पुरानी पंकिल वस्तुओं से पुनः न भरा जाये तब तक प्रतीक्षा करो, उर्ध्व की ओर अपने को उद्धाटित करो, अधिक उत्सुकता के साथ नहीं बल्कि स्थिरता और दृढ़ता के साथ पुकारो, नीरवता में उतरने के लिए शान्ति का, और यदि शान्ति आ जाये तब आनन्द और उपस्थिति का आवाहन करो।

सभी अवस्थाओं में और सत्ता के सभी भागों में समबुद्धि तथा शान्ति की स्थापना यौगिक स्थिति का प्रथम आधार है। ज्योति (ज्ञान के साथ) अथवा शक्ति (अनेक प्रकार की दृढ़ता तथा गत्यात्मकता के साथ) अथवा आनन्द (अस्तित्व के प्रेम तथा आनन्द के साथ) स्वभाव के झुकाव के अनुसार बाद में आ सकता है। परन्तु शान्ति पहली अवस्था है जिसके बिना अन्य कुछ भी नहीं रह सकता।

अचंचल और नीरव रहना सीखना

व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से और उन लोगो के लिये जो अभी पथ के शुरू में ही हैं, उस बात के बारे में चुप रहना जिसे वे नहीं समझते, उन चीजों में से एक है जो प्रगति में सबसे अधिक सहायक होती है। चुप कैसे रहा जाय यह जानना, केवल बाहरी तौर पर शब्द न बोलना ही नहीं, बल्कि यह जानना कि भीतर कैसे नीरव रहा जाय, यह जानना कि मन, जैसा कि वह हमेशा करता है, अपनी स्वभावगत ढिंढाई के साथ अपने अज्ञान के दावे के साथ घोषणा न करे, समझने में असमर्थ यंत्र द्वारा समझने की कोशिश न करे, अपनी दुर्बलताओं को पहचानने और बस सहज-भाव से चुपचाप स्वयं को खोले, प्रकाश को ग्रहण करने के लिये मुहूर्त की प्रतीक्षा करे क्योंकि केवल 'प्रकाश', सच्चा प्रकाश ही उसे समझ प्रदान कर सकता है। जो कुछ इसने सीखा है वही सब कुछ नहीं है, जो कुछ निरीक्षण किया है वही सब कुछ नहीं है, जो कुछ जीवन का तथाकथित अनुभव लिया है वही सब कुछ नहीं है, वह तो कुछ और है जो इस सबको पूरी तरह अतिक्रम कर जाता है। इससे पहले कि यह कुछ और— जो 'कृपा' की अभिव्यंजना है — उसमें अभिव्यक्त हो, यदि मन बड़ी शांति से, बड़ी विनम्रतासे अचंचल बना रहे, समझने की और सबसे बढ़कर मूल्यांकन करने की कोशिश न करे, तो चीजें अधिक तेजी से आगे बढ़ेंगी।

ये सारे शब्द, सारे विचार सिर में जो शोर मचाते हैं। वह बहरा बना देने वाले होते हैं, वह तुम्हें सत्य को, यदि वह अभिव्यक्त होना चाहे तो, सुनने से रोक देते हैं।

अचंचल और नीरव रहना सीखना... । जब तुम्हारे सामने सुलझाने के लिये कोई समस्या हो तो सब संभावनाओं, सब परिणामों, करणीय या अकरणीय सब संभव चीजों पर दिमाग लड़ाने की जगह यदि तुम सद्भावना की अभीप्सा लिये अचंचल बने रह सको, यदि संभव हो तो सद्भावना की आवश्यकता लिये, तो बहुत जल्दी समाधान निकल आता है। और क्योंकि तुम नीरव होते हो, इसलिये तुम उसे सुन पाते हो।

जब तुम किसी कठिनाई में फंस जाओ तो इस तरीके को आजमाओ: विक्षुब्ध होने, सब विचारों को उलटने—पलटने, जोर—शोर से समाधान ढूँढने, चिंता करने, चिढ़ने, अपने सिर के अंदर इधर—उधर भागते रहने के बजाय—मेरा मतलब बाह्य रूप से नहीं, इतनी सामान्य बुद्धि तो तुममें होगी ही कि बाह्य रूप में दौड़—भाग न करो। वरन्, भीतर, अपने सिर में अचंचल बने रहो। और अपने स्वभाव के अनुसार, उत्कटता के साथ या शांति के साथ, तीव्रता के साथ या विस्तार के साथ या इन सबको मिलाकर, प्रकाश की अभ्यर्थना करो और उसके आगमन की प्रतीक्षा करो। इस तरह पथ काफी छोटा हो जायेगा।

'श्रीमातृवाणी,' खण्ड 9, पृ. 388—89

बाहर के सारे शोर को नीरव कर दो,
भगवान् की सहायता के लिए अभीप्सा करो;
जब वह आये तो उसकी ओर पूर्ण रूप से खुलो
और उसकी क्रिया के आगे समर्पण करो,
और वह प्रभावकारी रूप से तुम्हारा रूपान्तर कर देंगी।

—'श्रीमातृवाणी,' खण्ड 15, पृ. 88

शान्ति के लिए आवश्यक

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।गी.5-29

— अर्थात् “जब मनुष्य मुझे सब यज्ञों और तपों का भोक्ता, सब लोकों का महेश्वर, सब प्राणियों का सुहृद जानता है तब वह शान्ति को प्राप्त होता है।” यहां कर्मयोग की शक्ति ही फिर से आ जाती है; यहां इस बात पर आग्रह किया गया है कि ब्रह्म निर्वाण की शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव को सक्रिय ब्रह्म का, विराट पुरुष का भी ज्ञान हो।

— गीता प्रबन्ध, पृ. 250

विराट् संकल्प शक्ति, सक्रिय ब्रह्म

योगी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, क्योंकि वह नहीं बल्कि विराट् प्रकृति ही अपने प्रभु से परिचालित होकर उसके अंदर कार्य करती है। वह अपने कर्मों से बंधता नहीं और उसके कर्म मन में कोई प्रभाव या परिणाम छोड़े बिना तथा अंतरात्मा को किसी भी तरह की विकृति किये बिना चले जाते हैं।

योगी को इस स्थिति को अपनाना होगा — अंतर में तो अटल निश्चल नीरवता, शांति एवं निष्क्रियता और बाहर ऐसी विराट् संकल्पशक्ति के द्वारा नियंत्रित कर्म जो, गीता के अनुसार, अपने कर्मों में लिप्त हुए बिना, उनमें अज्ञानपूर्वक आसक्त हुए बिना कार्य करती है।

नीरव आत्मा की उपलब्धि को खोये बिना सचेतन रूप से सक्रिय ब्रह्म को प्राप्त करना है, इसके लिए आंतरिक नीरवता, प्रशांति तथा निष्क्रियता को हमें आधार के रूप में सुरक्षित रखना होगा; पर सक्रिय ब्रह्म के कार्यों के प्रति उपेक्षापूर्ण उदासीनता के स्थान पर हमें उनमें सम और पक्षपात शून्य आनन्द प्राप्त करना होगा; इस भय से कि कहीं हमारी शांति और स्वतंत्रता खो न जाय जगत के कर्म में भाग लेने से इन्कार करने के स्थान पर हमें उस सक्रिय ब्रह्म को सचेतन रूप से प्राप्त करना होगा जिसका जागतिक सत्ता का आनन्द उसकी शान्ति को भंग नहीं करता, न समस्त जगद्व्यापार का स्वामी होने से अपने कर्मों के बीच में जिसकी शांत स्वतंत्रता को कोई क्षति ही पहुंचती है।

— योग समन्वय, पृ. 411-12

गीता का समाधान

निर्व्यक्तिक तथा विश्वमय आत्मा की नीरवता में आंतरिक तौर पर स्थिर, अनासक्त और प्रशांत रहना और फिर भी क्रियाशील प्रकृति के कार्यों को शक्तिशाली रूप से संपन्न करना, और अधिक व्यापक रूप में, अपने अंतःस्थ सनातन के साथ एकमय होना तथा जगद्व्यापी सनातन की उस समस्त इच्छा को कार्यान्वित करना जो हमारी उन्नीत, मुक्त, विश्वात्मभाव से युक्त, भगवत्प्रकृति से एकीभूत वैयक्तिक प्रकृति की उदात्तीकृत शक्ति तथा दिव्य उच्चता के द्वारा प्रकट हो—यही है गीता का समाधान।

—गीता-प्रबन्ध, पृ. 470

कर्म में भ्रम

यदि तुम भागवत चेतना के साथ एक हो तो फिर किसी कार्य में चाहे मनुष्य की कालगणना के हिसाब से एक हजार वर्ष लगे या केवल एक वर्ष लगे, इसका कुछ भी महत्व नहीं रहता; क्योंकि, उस अवस्था में तुम मानव प्रकृति की अवस्थाओं का अतिक्रमण कर भागवत प्रकृति की अनन्तता और शाश्वतता में प्रवेश कर जाते हो। तब तुम जल्दबाजी की व्याकुलता से बच जाते हो जिससे मनुष्य जकड़े रहते हैं क्योंकि, वे काम को पूरा होते हुए देखना चाहते हैं। उद्वेग, उतावलेपन और बेचैनी से कुछ नहीं बनता। यह समुद्र पर फेन है, यह एक महान् उपद्रव है जो अपने-आप में समाप्त हो जाता है। मनुष्यों को लगता है कि निरंतर दौड़-धूप और कूद-फांद किये बिना, कर्मण्यता के आवेश में उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगाये बिना वे कुछ कर ही नहीं सकते। परंतु यह समझना एक भ्रम है कि इन तथाकथित हलचलों से चीजें बदल सकती है। यह एक ऐसी बात है जैसे कोई एक कटोरे को हाथ में उठाकर उसमें जल को थपेड़ता रहे। इस क्रिया से जल इधर-उधर अवश्य हिलेगा, किंतु तुम्हारे इतने थपेड़े खाकर भी वह नहीं बदलेगा। कर्म का यह भ्रम मानव प्रकृति के सबसे बड़े भ्रमों में से है। इससे प्रगति में बाधा पहुंचती है, क्योंकि इस भ्रम में पड़कर तुम सदा किसी उत्तेजित गति से दौड़ पड़ने की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हो। काश, तुम इस भ्रम को जान जाओ, और यह देख सको कि यह सब कितना निरर्थक है, कि इससे कुछ भी नहीं बदलता! इसके द्वारा तुम्हें कहीं कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। जो इस प्रकार दौड़-धूप करते हैं वे ऐसी शक्तियों के खिलौने होते हैं जो उन्हें अपने आमोद के लिये नचाया करती है। और ये शक्तियां भी उत्तम कोटि की नहीं होती।

जगत् में जो कुछ भी किया गया है वह उन थोड़े-से लोगों के द्वारा ही किया गया है जो क्रियाओं के परे नीरवता में स्थित रह सके हैं, ऐसे लोग भागवत शक्ति के उपकरण होते हैं। ये गतिशील प्रतिनिधि और सचेतन उपकरण हैं जो उन शक्तियों को उतार लाते हैं जो जगत् का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चंचल कर्मण्यताद्वारा। शांति, स्थिरता और नीरवता की अवस्था में ही जगत् का निर्माण हुआ था और जब कभी किसी सच्ची चीज की रचना करनी होगी तो उसे शांति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत् के लिये कुछ कर सकने के लिये तरह-तरह की निरर्थक बातों के लिये परिश्रम करना और सुबह शाम तक दौड़-धूप करना आवश्यक है।

एक बार तुम इन चक्कर खाती हुई शक्तियों से पीछे हटकर शांत क्षेत्रों में पहुंच जाओ तो देखोगे कि यह कितना बड़ा भ्रम है। तब तुम्हें मानव जाति अंधे प्राणियों के समूह-सी लगेगी जो यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड़-धूप करते फिरते हैं और एक-दूसरे के साथ केवल टकराते और ठोकरें खाते रहते हैं। और लोग इसी को कर्म और जीवन कहते हैं! यह थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

हमें शांत—स्थिर होना होगा

जब मैं किसी से कहती हूँ कि “शांत—स्थिर रहो”, तो मेरा अभिप्राय होता है : विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशांत विचार न रखने की कोशिश करो; अपने मन को निश्चल बनाये रखने तथा अपनी समस्त कल्पनाओं, पर्यवेक्षणों तथा मानसिक रचनाओं को एक वृत्त में चक्कर काटते रहने से रोकने का प्रयास करो।

यहां बिलकुल न्यायतः एक प्रश्न जोड़ा जा सकता है : आप हमसे कहती हैं : “शांत—स्थिर रहो”, पर शांत—स्थिर रहने के लिये हमें क्या करना चाहिये? . . . उत्तर सर्वदा कम या अधिक वहीं होता है : हमें सबसे पहले इसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये और इसकी इच्छा करनी चाहिये, और फिर अभीप्सा करनी चाहिये, और कोशिश करनी चाहिये! कोशिश करने के लिये, अनगिनत उपाय हैं जिन्हें बहुत—से लोगों ने निर्धारित किया तथा अजमाया है। ये उपाय साधारण तौरपर दीर्घ, श्रमसाध्य और कठिन होते हैं; और बहुतेरे लोग अंत तक पहुंचने से पहले निरूत्साहित हो जाते हैं, कारण, जितना ही अधिक वे प्रयास करते हैं उतना ही अधिक उनके विचार उनके मस्तक में चक्कर काटना तथा विक्षुब्ध होना आरंभ कर देते हैं।

मनुष्य को सर्वप्रथम इस निश्चलता की, मन की इस शांति की आवश्यकता को समझना और महसूस करना होगा। और फिर उसके बाद, वह क्रमशः सभी प्रकार के उपायों से, विदित और नवीन उपायों से, परिणाम की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सकता है।

अब हम तुरंत देखते हैं कि एक दूसरी अचंचलता भी है जो आवश्यक है, यहां तक कि अत्यावश्यक है, वह है प्राणिक स्थिरता, अर्थात्, कामनाओं का अभाव। केवल प्राण जब पर्याप्त रूप में विकसित नहीं होता, तो जैसे ही उससे शांत—स्थिर बने रहने के लिये कहा जाता है, वह या तो सोने चला जाता है या हड़ताल कर बैठता है; वह कहता है : “आह! नहीं, मैं अब काम नहीं कर सकता! मुझे जिस पोषण की जरूरत है, उत्तेजना, उत्साह, कामना, यहां तक कि आवेग आदि, यदि तुम नहीं देते तो मैं हिलना—डुलना भी पसंद नहीं करता और अब मैं कुछ भी नहीं करूंगा।” अतएव यहां पर समस्या जरा ज्यादा नाजुक बन जाती है और संभवतः और भी अधिक कठिन; क्योंकि निस्संदेह, उत्तेजना से तमस् में गिर पड़ना किसी प्रकार की प्रगति करने से बहुत दूर है! मनुष्य को तमस् या निद्राजन्य निष्क्रियता को कभी स्थिरता समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

स्थिरता एक बहुत भावात्मक स्थिति है; उसमें एक प्रत्यक्ष शांति है जो संघर्ष का विपरीत तत्व नहीं है — वह एक सक्रिय, संक्रामक, बलशाली शांति है जो वश में करती और शांत बनाती है, जो प्रत्येक वस्तु को यथाक्रम रखती है, सुव्यवस्थित करती है; मैं इसी की चर्चा कर रही हूँ; जब मैं किसी से कहती हूँ कि “शांत—स्थिर बनो”, मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि “जाओ और सो जाओ, जड़ और निष्क्रिय बन जाओ, और कोई कार्य मत करो,” इससे बहुत दूर...। सच्ची स्थिरता एक बहुत बड़ी शक्ति है, एक बहुत बड़ा बल है। वास्तव में, दूसरी ओर से इस समस्या को देखते हुए, हम कह सकते हैं कि जो सब लोग सचमुच सशक्त, बलशाली होते हैं। वे सर्वदा ही बहुत शांत—स्थिर रहते हैं। केवल दुर्बल लोग ही उत्तेजित रहते हैं; जैसे ही कोई सचमुच प्रबल बन जाता है वह शांतिपूर्ण, स्थिर, अचंचल बन जाता है, और उसमें प्रतिकूल लहरों का, जो उसे विक्षुब्ध करने की आशा से बाहर से टूट पड़ती है, सामना करने की सहन—शक्ति होती है। यह

सच्ची निश्चलता हमेशा ही शक्ति का एक चिह्न होती है। स्थिरता शक्ति सम्पन्न लोगों की चीज होती है।

मैंने ऐसे लोगों को, बहुत-सारे लोगों को देखा है जो अशांत हुए बिना आध-घंटे भी चुप नहीं बैठ सकते थे। उन्हें या तो अपनी टांग या पैर अथवा हाथ या अपना सिर हिलाना पड़ता था; उन्हें सब समय अशांति के साथ हिलना-डुलना पड़ता था, क्योंकि उनमें शांत-स्थिर बने रहने की सामर्थ्य या शक्ति नहीं थी।

जब कोई चाहे तब निश्चल बने रहने की यह क्षमता, अपनी समस्त शक्तियों को एकत्र करना तथा उन्हें जब इच्छा हो तब खर्च करना, यदि कोई चाहे तो पूर्ण रूप में, अथवा अपनी इच्छा के अनुसार, कर्मरत रहते हुए भी पूर्ण शांतिपूर्वक, उन्हें कर्म में विभाजित कर देना – यह सर्वदा शक्ति सामर्थ्य का चिह्न है। यह भौतिक शक्ति या प्राणिक शक्ति या मानसिक शक्ति हो सकती है। परंतु तुम यदि तनिक भी उत्तेजित होओ, तो यह विश्वास कर सकते हो कि कहीं पर कोई दुर्बलता है; और यदि तुम्हारी अशांति सर्वांगपूर्ण हो तो वह एक सर्वांगपूर्ण दुर्बलता है।

सो, यदि मैं किसी से कहती हूँ कि “शांत-स्थिर रहो”, तो मैं शायद उससे सब प्रकार की बातें कहती हूँ, यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है। परंतु स्पष्ट ही, अधिकांश समय यह बात होती है : “अपने मन को शांत बनाओ, अपने मस्तक में सब समय चंचलता मत आने दो, बहुत अधिक विचारों की खोज मत करो, शांत-स्थिर बने रहो।”

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 8, पृ. 342-43-44

दिव्य ज्योति के शांत क्षेत्रों में

संकुचित अनुभव की एक संकीर्ण झालर सम इस जीवन को

जो हमारी बांट में आया है, पीछे छोड़ देते हैं,

अपने लघु विहारों को, अपनी अप्रर्याप्त पहुंचों को तज देते हैं।

हमारी जीव सत्ताएं इन महत्वपूर्ण एकाकी घड़ियों में

अविनाशी दिव्य ज्योति के शांत क्षेत्रों में रमण कर सकती हैं;

नीरव परा-शक्ति के गरुड़ाचारी सर्वदृष्टा शिखरों पर

और अगाध परमानन्द के तीव्र राशि शीतल ज्वाल सागरों पर

और आत्माकाश की प्रशांत विशालताओं में रम सकती हैं।

– श्री अरविंद, ‘सावित्री’, पृ.47

मन को शान्त रखना

चैत्य सत्ता के साथ एक प्रकार का आंतरिक संपर्क होता है, वह तब पैदा होता है जब व्यक्ति स्वेच्छा से किसी कामना को छोड़ देता है। और इसी कारण, वह कामना की तुष्टि की अपेक्षा कहीं अधिक आनन्द प्राप्त करता है। और फिर, लगभग एक सामान्य नियम के रूप में, प्रायः बिना किसी अपवाद के, जब तुम किसी कामना को तुष्ट कर लेते हो, तो हमेशा कहीं-न-कहीं एक प्रकार का कड़वा स्वाद रह जाता है।

ऐसी कोई कामना नहीं जो संतुष्ट होने पर एक प्रकार की कटुता न छोड़े। जैसे अगर तुम बहुत मीठी मिठाई खा लो तो तुम्हारा मुंह कड़वाहट से भर जाता है। यह ऐसा ही है। तुम्हें सचाई के साथ प्रयास करना चाहिये। स्वभावतः, कामना त्यागने का ढोंग करके उसे एक कोने में छिपाये न रखो, क्योंकि इससे बहुत दुःख होता है। तुम्हें सचाई और निष्कपटता के साथ प्रयास करना चाहिये।

चैत्य आवश्यकता अपने-आपको कैसे चरितार्थ करती है?

चैत्य आवश्यकता 'भागवत कृपा' की अभिव्यक्ति है और यह 'भागवत कृपा' के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

जगत् में चैत्य जीवन 'भागवत कृपा' की एक क्रिया है। चैत्य विकास 'भागवत कृपा' की क्रिया है, और भौतिक सत्ता पर चैत्य सत्ता की चरम शक्ति भी 'भागवत कृपा' का ही परिणाम होगी। और अगर मन जरा भी उपयोगी होना चाहे, तो उसे बहुत शांत रहना चाहिये, जितना नीरव रह सकता है रहे, क्योंकि अगर वह अपनी टांग अड़ायेगा तो निश्चय ही सब कुछ बिगाड़ देगा।

तो फिर मन की जरूरत न रहेगी?

आह, क्षमा करो, मैंने यह नहीं कहा कि मन की जरूरत नहीं है। मन और किसी चीज के लिये उपयोगी हो सकता है। मन रूप देने का और व्यवस्था करने का यंत्र है, और अगर मन चैत्य को अपना उपयोग करने दे तो बहुत अच्छा होगा। लेकिन मन चैत्य को अभिव्यक्त होने में सहायता नहीं देगा। भूमिकाएं उल्टी हैं। बाद में चलकर जब चैत्य सत्ता बाह्य चेतना पर अधिकार पा चुकेगी तो मन चैत्य की अभिव्यक्ति का एक यंत्र बन सकेगा। इसका पहले होना बहुत ही विरल है। साधारणतः, वह एक परदा और रूकावट होता है। लेकिन, निश्चय ही, वह अभिव्यक्ति में सहायक नहीं हो सकता। अगर वह सच्चा स्थान और सच्ची गतिविधि अपनाये तो क्रिया में सहायक हो सकता है। और अगर वह चैत्य प्रेरणा के प्रति बिलकुल विनीत बन जाय, तो वह जीवन को व्यवस्थित करने में सहायक हो सकता है, क्योंकि यही उसका काम है, यही उसका उद्देश्य है। लेकिन पहले जरूरत इस बात की है कि चैत्य सत्ता क्षेत्र पर अधिकार कर ले, कि वह गृहस्वामी बन जाय। तब, उसके बाद, चीजें व्यवस्थित हो सकती हैं।

बाह्य सत्ता के लिये केवल एक ही तरीका है। हम भौतिक सत्ता को लें— भौतिक सत्ता, बेचारी, छोटी-सी भौतिक सत्ता, बाह्य सत्ता, जो कुछ नहीं जानती, जो अपने-आप कुछ नहीं कर सकती। उसके लिये चैत्य सत्ता को अपने अंदर अभिव्यक्त करने देने का

बस, एक ही तरीका है : एक बच्चे की सरल ऊष्मा के साथ (माताजी बहुत धीमे बोलती हैं) अभीप्सा करना, प्रार्थना करना, मांगना, अपनी सारी शक्ति के साथ चाहना, बिना तर्क किये, बिना समझने की कोशिश किये, चाहना। तुम कल्पना नहीं कर सकते कि तर्क और समझने की कोशिश अनुभूति में कितने बाधक होते हैं। जिस क्षण तुम निश्चित रूप से ऐसी स्थिति पाने-पाने को हो जहां कुछ होने वाला है, सत्ता की चेतना में कुछ स्पंदन बदलेंगे..... तुम एक अभीप्सा में पूरी तरह उठे हुए हो और तुम अपनी अभीप्सा को संलग्न करने में सफल हो गये हो, और तुम उत्तर की प्रतीक्षा में लगे हो, उस समय अगर यह कम्बख्त मन अस्थिर हो उठे और पूछे : “यह क्या हो रहा है, क्या होनेवाला है, वह कब होगा, वह कैसे होगा, और ऐसा क्यों है, और चीजें किस क्रम में अभिव्यक्त होंगी?” तो बस, खतम। तुम उठकर अपने कमरे में झाड़ू लगा सकते हो। तुम किसी और चीज के लायक नहीं हो।

– ‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 7, पृ. 38-40



Narium oleander
(कनेर)

QUIET MIND शांत मन

The Best way to learn
सीखने के लिए उत्तम पथ

—श्रीमाँ

शांत मन की चेतना विचारों का निरीक्षण करती है किन्तु
उसमें भाग नहीं लेती एवं अपनी शांति नहीं खोती।

—श्रीअरविंद

शांति

‘शाश्वत’ शांति और नीरवता में अभिव्यक्त होते हैं। कोई भी चीज़ तुम्हें क्षुब्ध न करने पाये तो ‘शाश्वत’ प्रकट होंगे।

(12 मई, 1954)

*

सच्ची शक्ति अविचल शांति में ही मिल सकती है।

(13 मई, 1954)

*

शांति में ही ज्ञान और शक्ति सचमुच प्रभावशाली होते हैं।

हमारे हृदयों में सदा भगवान की ‘शांति’ का निवास होना चाहिये। (11 सितंबर, 1954)

*

पूर्णतम शांति, प्रसन्नता और समानता में ही सब कुछ भगवान होता है। वैसे ही जैसे भगवान सब कुछ है। (26 सितंबर, 1954)

*

मन की शांति को अनुकूल परिस्थितियों द्वारा नहीं बल्कि आंतरिक रूपांतर—द्वारा प्राप्त करना चाहिये।

(18 मार्च, 1960)

*

शांत रहो भगवान के कार्य पर विश्वास रखो।

(14 नवंबर, 1961)

*

नीरवता

नीरवता: प्रगति के लिये आदर्श अवस्था।

*

नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है।

*

केवल नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है, केवल नीरवता में ही तुम किसी गलत गतिविधि का सुधार कर सकते हो, केवल नीरवता में ही तुम किसी और की सहायता कर सकते हो।

*

नीरव सहायता ज्यादा प्रभावशाली और निश्चित मालूम होती है, अधिक स्थायी और ब्योरेवार होती है।

*

अधिक से अधिक मौन नीरवता है।

*

हृदय की नीरवता में तुम आदेश पाओगे।

*

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 14, पृ. 142-43

शान्ति और नीरवता प्राप्त करना

हमें मन को स्थिर करना सीखना होगा। हमें वह निरपेक्ष शान्ति और स्थिरता प्राप्त करनी होगी जिसमें पहुँचकर हम उस अंतःस्थित स्थिर, अचल, आनन्दमय आत्मा को जान सकें जो सदा बाह्य पदार्थों के स्पर्शों से अक्षत, अक्षुब्ध रहती है, जो अपने-आप में पूर्ण रहती और चिरंतन तृप्ति लाभ करती है।

यह आत्मा ही हमारा स्वतः सिद्ध स्वरूप है। यह हमारे वैयक्तिक जीवन से बद्ध नहीं है। यह सब भूतों में एक, सब में व्यापक, सब में सम, अपनी अनन्त सत्ता से अखिल विश्वकर्म को धारण करनेवाली है, यह देशकाल की परिच्छिन्नता से परिच्छिन्न होनेवाली नहीं है। प्रकृति और व्यष्टि के परिवर्तनों से परिवर्तित होनेवाली नहीं है। जब हमें अपने अन्दर इस आत्मा के दर्शन होते हैं, जब हमें इसकी शान्ति और नीरवता का अनुभव होता है, तब हम इसमें संवर्द्धित हो सकते हैं; हमारा अंतःपुरुष जो अभी प्रकृति में निमज्जित होकर निम्नतर अवस्था में है उसे आत्मा में पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं। हम यह उन वस्तुओं की शक्ति से कर सकते हैं जो हमें प्राप्त हुई हैं – स्थिरता, समता, निर्विकार नैर्व्यक्तिकता। क्योंकि ज्यों-ज्यों हम इन चीजों में विकसित होते हैं, उन्हें अपनी पूर्णता तक पहुँचाते हैं और अपनी सारी प्रकृति को इनके अधीन कर देते हैं, त्यों-त्यों हम इस स्थिर, सम, निर्विकार, नैर्व्यक्तिक, सर्वव्यापक आत्मा के स्वरूप में विकसित होते जाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ उसी नीरवता में जा पहुँचती हैं और जगत के स्पर्शों को महती शान्ति के साथ ग्रहण करती हैं; हमारा मन उसी नीरवता को प्राप्त होकर शान्त, विराट् साक्षी बन जाता है; और हमारा अहंकार इसी नैर्व्यक्तिक सत्ता में विलीन हो जाता है। तब हम सभी चीजें उसी आत्मा में देखते हैं। जो हम स्वयं बन चुके हैं; और हम इस आत्मा को सबके अन्दर देखते हैं; हम सब भूतों के साथ उनकी आत्मसत्ता में एकीभूत हो जाते हैं।

गीता प्रबन्ध, पृ. 268
– श्री अरविंद

मन की सच्ची उपयोगिता

तुम्हें वस्तुओं और लोगों के विषय में अपने मन को कोई निर्णय नहीं करने देना चाहिये,

क्योंकि मन ज्ञान का यंत्र नहीं है— यह तो ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है – बल्कि इसे स्वयं ज्ञान के द्वारा चालित होना चाहिये। ज्ञान तो उस क्षेत्र की चीज है जो मानव मन के क्षेत्र से बहुत ऊपर है, यहां तक कि शुद्ध भावनाओं के क्षेत्र से भी परे है। मन को निश्चल-नीरव और सतर्क बनाना होगा ताकि वह ऊपर से ज्ञान को ग्रहण कर सके और उसे अभिव्यक्त कर सके, क्योंकि वह रूप देने, संघटन करने और कार्य करने का यंत्र है। वास्तव में, इन्हीं कार्यों के अन्दर वह अपने पूरे मूल्य और यथार्थ उपयोगिता को प्राप्त करता है।

—‘श्रीमातृवाणी’. खण्ड 12 पृ.14

सब शब्दों से ऊपर, सब विचारों से ऊपर अभीप्सा करती हुई श्रद्धा की प्रकाशमान नीरवता में अपने-आपको पूरी तरह, बिना कुछ बचाये हुए, समस्त जीवन को परम प्रभु को अर्पण कर दो और वे तुम्हें जो बनाना चाहते हैं वही बना देंगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

– ‘श्री मातृवाणी’, खण्ड 12, पृ. 290

मानसिक नीरवता

नीरवता में, हम, 'सत्य' के संपर्क में आते हैं। फिर विचार उतरता है, शब्दों—के "पुस्तकालय" में से गुजरता है और सबसे अधिक उपयुक्त शब्द चुन लेता है। पहले यह धुंधले रूप में आता है। जब तक वह यथार्थ रूप न ले ले तुम्हें प्रयास करते जाना चाहिये। तुम्हें उसे लिख लेना चाहिये, पर तुम्हें शांत रहना और जारी रखना चाहिये। तब तुम्हें ठीक शब्द मिलेगा।

पता नहीं, तुमने मानसिक नीरवता पाने का प्रयास किया है या नहीं। तुम अपना सारा जीवन उसमें लगा सकते हो और हो सकता है कि लगभग कुछ भी प्राप्त न हो, जब कि यह बहुत मजेदार है।

पहले कुछ नहीं होता। तुम्हें यूँ ही रहना होगा : सक्रिय रूप से नहीं भगवान् की ओर अभीप्सा में रहो। मनमें कोई भी गति न हो: समर्पण भी नहीं, यह गति है संपूर्ण ... कुछ कुछ आत्मदान और आत्मत्याग के बीच की चीज। और अगर मन अपनी सत्ता—पद्धतिका निवेदन कर दे तो एक दिन सहज रूप में उत्तर आ जाता है। वह प्रकाश की तरह आता है।

तुम जितने अधिक शांत होगे, तुम्हारे अंदर जितना विश्वास होगा, तुम जितना अधिक ध्यान दोगे, वह उतने ही अधिक स्पष्ट रूप में आयेगा। समय आता है जब तुम्हें इतना करना होता है (खोलने का संकेत)।

जब तुम यह मानने लगो कि मन शक्तिहीन है, कि वह कुछ नहीं जानता तो तुम नीरव हो जाते हो। तुम्हें अधिकाधिक विश्वास हो जाता है कि वहां, ऊपर, एक ऐसी चेतना है जो न सिर्फ जानती है, बल्कि जिसमें शक्ति है, जो छोटे—से—छोटे ब्यौरे— को देखती है और परिणामतः आवश्यकताको जानती है और उसका उत्तर देती है। जब तुम्हें इस बात का विश्वास हो जाय तो तुम निजी हस्तक्षेप छोड़ देते हो और कहते हो : "लो, मेरा स्थान ले लो।"

— 'श्री मातृवाणी', खण्ड 12 पृ.187-88

मैंने एक बार कहा था कि दस मिनट तक सार्थक रूप से बोलने के लिये तुम्हें दस दिन तक मौन रहना चाहिये। मैं यह और जोड़ सकती हूँ कि एक दिन सार्थक रूप से कार्य करने के लिये एक वर्ष तक शांत रहना चाहिये। अवश्य ही, यह बात मैं साधारण बाह्य जीवन के लिये आवश्यक नित्य की दिनचर्या—संबंधी सामान्य कार्यों के विषय में नहीं कर रही, बल्कि उनके लिये कह रही हूँ जिन्हें संसार में कुछ करना है अथवा जिनका यह विश्वास है कि उन्हें कुछ करना है। और नीरवता से मेरा अभिप्राय आंतरिक शक्ति से है और यह उन्हीं को प्राप्त हो सकती है जो अपने कर्मों से अपने आपको तदाकार किये बिना, उनमें सराबोर हुए बिना तथा अपनी ही प्रवृत्तियों के कोलाहल और रूप से अंधे और बहरे हुए बिना कर्म कर सकते हों। अपने कर्मों से अपने आपको अलग कर लो और इन सांसारिक प्रवृत्तियों के परे जो दृष्टि है उसमें ऊपर उठो, 'शाश्वत' की चेतना में प्रवेश करो। तभी तुम जान पाओगे कि सच्चा कर्म क्या है।

— 'श्रीमातृवाणी', खण्ड 3, पृ.67

निश्चल नीरवता में सुनना सीखना

(श्रीमाताजी पढ़ना शुरू करती हैं) : "... हम जो कुछ कहते हैं वह बहुत स्पष्ट होता है, पर जिस रूप में लोग उसे समझते हैं उसे देखकर स्तंभित रह जाना पड़ता है! प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ ऐसी ही बात देखता है जो कहनेवाले के अभिप्राय से भिन्न होती है अथवा यहां तक कि वह उसमें कोई ऐसी चीज मिला देता है जो उसके आशय के सर्वथा विपरीत होती है। "यदि तुम किसी बात को यथार्थ रूप में समझना और इस प्रकार की भ्रांति से बचना चाहो तो तुम्हें उस कथन की ध्वनि और उसे शब्दों के स्पंदन के पीछे जाकर उसे निश्चल-नीरवता में सुनना सीखना चाहिये।"

हम निश्चल-नीरवता में सुनना कैसे सीख सकते हैं?

यह ध्यानपूर्वक सुनने का विषय है। यदि तुम अपने ध्यान को उस बात पर एकाग्र करो जो कही जा रही है और उसे ठीक-ठाक समझने का संकल्प भी बनाये रखो तो निश्चल-नीरवता अपने आप उत्पन्न हो जाती है— हमारा ध्यान ही निश्चल-नीरवता को पैदा करता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 4, पृ. 204

*

नीरवता में परम प्रभु से आनेवाली आवाज को सुनो। तुम्हारे अन्दर उसे कार्यान्वित करने की क्षमता आ जायेगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड-2, पृ.41

*

सुनो नीरवता की वाणी। बाहर की स्तुति और प्रशंसा का कलरव ही तुम्हारे कानों को सुख देता रहा है; अब नीरवता की वाणी तुम्हारी आत्मा को सुख देगी, तुम्हारे अंदर जाग्रत करेगी गहराइयों की प्रतिध्वनि, दिव्य स्वर संगतियों का नाद।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड-10, पृ.306

*

समस्त वाणी और कर्म शाश्वत 'नीरवता' से तैयार होकर निकलते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड-2, पृ. 76

*

विचार की सुदूर वाणी सुनने के लिए कितनी अधिक नीरवता की जरूरत होती है। बाहरी भ्रामक और क्षणिक नीरवता नहीं, बल्कि उसके विपरीत, सच्ची, गहरी, समग्र और स्थायी नीरवता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड-10, पृ. 303

*

स्पष्ट ही मन की नीरवता में ही व्यक्ति भागवत आदेश को जान सकता है जानने की सच्ची विधि शब्दों और विचारों से परे है।

ऐसा होने पर सब कुछ बड़ा स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति भागवत आदेश को पहले जान लेता है और वर्णन करने वाले शब्द पीछे आते हैं।

— श्रीमाँ

1.1.60

उच्चतर क्षेत्रों की ओर खोलना

“नीरवता..... ऊपर से होने वाले अवतरण के द्वारा ज्यादा आसानी से प्रतिष्ठित हो सकती है।”
“ऊपर से” का क्या मतलब है, मधुर माँ?

चेतना के उच्चतर स्तरों से, अगर तुम चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर खुलो और ऊपर से शक्ति का अवतरण हो, तो बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से, वह निचले क्षेत्रों में नीरवता स्थापित कर देती है। क्योंकि नीचे उतरने वाली यह उच्चतर शक्ति उन क्षेत्रों पर नियंत्रण रखती है। यह शक्ति मन के उच्चतर क्षेत्रों से या उनके भी परे से, या अतिमनतक से आती है। तो जब यह शक्ति और चेतना नीचे आकर निचले क्षेत्र की चेतना में प्रवेश करती है, तो स्वभावतः यह चेतना शांत—स्थिर हो जाती है, क्योंकि ऐसा लगता है मानों, इस पर आक्रमण हुआ है, इसका रूपांतर करने वाली उच्चतर ज्योति की बाढ़ आ गयी है।

वास्तव में अपने मन में, निरंतर नीरवता स्थापित करने का यही एकमात्र उपाय है। उपाय यह है: अपने आपको उच्चतर क्षेत्रों की ओर खोलो, और इस उच्चतर चेतना, शक्ति और प्रकाश को निरंतर अपने अंदर, निम्न मानस में उतरने दो और उस पर अधिकार कर लेने दो। जब ऐसा होता है, तो इधर निम्न मानस हमेशा स्थिर—शांत और नीरव रह सकता है, क्योंकि यही क्रियाशील रहता है और सारी सत्ता को भरे रहता है। मन के सक्रिय हुए बिना तुम काम कर सकते हो, लिख और बोल सकते हो। मन अपने—आपमें एक निष्क्रिय यंत्र बन जाता है और ऊपर से आने वाली यह शक्ति उसमें प्रवेश करती और उसका उपयोग करती है। और वास्तव में, नीरवता स्थापित करने का यही एकमात्र तरीका है, क्योंकि एक बार यह स्थापित हो जाय, नीरवता स्थापित हो जाय तो मन फिर हिलता डुलता नहीं, जब यह शक्ति उसमें अभिव्यक्त होती है, तो वह इसी की प्रेरणा से चलता है। वह एक बहुत स्थिर, बिल्कुल नीरव क्षेत्र के जैसा हो जाता है, और जब शक्ति नीचे आती है तो तत्त्वों को गतिशील बनाती है और उनका उपयोग करती है। वह मनके आलोड़ित हुए बिना उसके द्वारा अभिव्यक्ति पाती हैं। मन बिल्कुल स्थिर रहता है।

मधुर मां, हम चेतनाको मिश्रित चीजों से कैसे खाली कर सकते हैं ?

अभीप्सा के द्वारा, निचली गतियों के त्यागद्वारा और उच्चतर शक्ति को पुकार कर। अगर तुम अमुक गतियों को स्वीकार न करो, तो स्वभावतः, उन्हें पता लगेगा कि वे अभिव्यक्त नहीं हो सकती, तो धीरे धीरे उनका बल घटता जायेगा और वे आना बंद कर देंगी। अगर तुम हर निम्न प्रकार की चीज को अभिव्यक्त करने से इंकार कर दो, तो जरा जरा करके वह चीज गायब हो जाती है, और तुम्हारी चेतना निम्नतर चीजों से खाली हो जाती है। यह अभिव्यक्त करना अस्वीकार करने से हो सकता है— मेरा मतलब है केवल क्रिया में ही नहीं, विचारों और भावनाओं में भी जब आवेश, विचार, भाव आये, तो अगर तुम उन्हें अभिव्यक्त करने से इंकार कर दो, अगर तुम उन्हें एक ओर धकेल दो और आंतरिक अभीप्सा और अचंचलता की स्थिति में रहो, तो आहिस्ता—आहिस्ता उनका बल घटता जाता है और वे आना बंद कर देते हैं। तो इस तरह चेतना निचली गतियों से खाली हो जाती है।

“निश्चलता बनाये रखो और अगर कुछ समय के लिये वह खाली निश्चलता हो तो परवाह न करो, चेतना प्रायः उस पात्र की तरह होती है जिसे उसकी घुली—मिली या अवांछनीय चीजों से खाली करना पड़ता है, उसे कुछ समय के लिये, तब तक खाली रखना पड़ता है जब तक वह नयी और सच्ची, ऋजु और पवित्र वस्तुओं से भरी न जा सके”।

‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड 6, पृ. 322—23

शांत स्थिरता

अगर हम यह अनुभव करें कि वातवारण में और सब जगह शांत-स्थिरता है, तो क्या इसका यह मतलब है कि स्वयं हमारे अंदर शांत-स्थिरता है?

क्या? हां। जो पहली चीज आती है वह उदाहरण के लिये, अगर तुम्हें किसी विशेष प्रकार की अनुभूति हो – जैसे तुम्हें शांति की अनुभूति हो सकती है। स्थिरता की अनुभूति, पूर्ण सद्भावना की अनुभूति भी हो सकती है, और सहानुभूति या अनुकंपा की अनुभूति हो सकती है; यह अनुभूति ऐसी होती है मानों चेतना पर इनमें से किसी गति ने अधिकार कर लिया है; तब यह चीज होती है जो बाद में अजीब-सी लगती है, परंतु उस समय के लिये बिलकुल स्वाभाविक होती है – तुम्हें लगता है कि वह चीज हर जगह, हर एक में, सारे वातावरण में, तुम्हारे चारों ओर है, और अगर चेतना काफी विशाल है, तो लगता है कि यह सारी पृथ्वी पर है, ठीक वही शांति वही अनुकंपा, या वही सद्भावना सब जगह है। इस तरह आदमी पूरी सचाई के साथ कह सकता है, उस अनुभूति में पूरी तरह निवास करते हुए कह सकता है: “सृष्टि में पूर्ण सद्भावना है।”

अगर तुम उस अनुभूति में से निकल आओ, तो फिर स्वभावतः, यह बात नहीं रहती। लेकिन जब तुम उसमें रहते हो, उस समय यह चीज बिलकुल ठीक रहती है। और फिर, अगर तुम इसे, इन अनुभूतियों को आगे बढ़ाओ (और जो अपने-आपको सचेतन रूप से भगवान् के साथ एक करने का प्रयत्न करते हैं उनके साथ ठीक यही चीज होती है), जब तुम्हें यह तादात्म्य प्राप्त हो जाय और तुम्हारे अन्दर भगवान् की चेतना हो, तो तुरंत तुम यह अनुभव करते हो कि भगवान् सब कुछ है, सब जगह है, सब चीजों में है, और भगवान् के सिवाय कुछ है ही नहीं। जिन लोगों को यह अनुभूति हुई है, उन्होंने यह कहा है। उन्होंने कहा है: “लेकिन, केवल भगवान् ही हैं, सब कुछ भगवान् हैं, केवल भगवान् का अस्तित्व है।” फिर भी, उस अनुभूति में से निकल आने के बाद भी, अगर आदमी यह कहता रहे तो वह लगभग झूठ बोलता है, इस अर्थ में कि अब यह बात उसकी चेतना की वर्तमान स्थिति के साथ मेल नहीं खाती।

जब आदमी साधारण बाहरी चेतना में होता है, तो हर चीज भगवान् बिलकुल नहीं होती, उससे कहीं दूर होती है। जो आकर तुमसे कहते हैं कि इस बाह्य चेतना में सब कुछ भगवान् हैं, वे गप्पी हैं! लेकिन जब वे इस अनुभूति में होते हैं और भगवान् को ही जीते हैं, जब वे भगवान् हो जाते हैं, तब उनके लिये सब कुछ भगवान् होता है। वे भगवान् के सिवाय और कुछ नहीं देखते : “सब कुछ भगवान् हैं,” क्योंकि वे केवल भगवान् को देखते हैं। लेकिन जैसे ही वे इस अनुभूति में से बाहर आ जायें, वे यह नहीं कर सकते।

तुम अपने अनुभव में जितने अधिक तन्मय हो जाते हो, उतनी ही सभी चीजें उसके साथ एक हो जाती है।

नीरवता में अच्छे से अच्छा करना

व्यावहारिक दृष्टिकोण से, तुम्हें आंतरिक नीरवता में रहना चाहिये, साथ ही एक ऐसा मानसिक क्रिया-कलाप होना चाहिये जो पूरी तरह से उन चीजों में लगा हो जो तुम करना चाहते हो। वह उस प्रगति में लगा हो जो तुम साधना चाहते हो, यानी, उस मानसिक रचना में लगा हो जिसकी तुम्हें अपने काम के लिये जरूरत है। और यह कहीं अधिक अच्छा है, बल्कि मैं कहूंगी कि एकदम अनिवार्य है, कि तुम अपने अवलोकन के गुण का उपयोग कार्य-क्षेत्र में, तुम अपने काम में जिस पद्धति का उपयोग करते हो उसमें, अपने अनुभव से तुम जो निष्कर्ष निकाल सकते हो उसमें, तुम जो ज्ञान प्राप्त कर सकते हो उसमें, यानी, इन सब चीजों में उसका उपयोग कर सकते हो..... लेकिन उसे स्वयं अपनी ओर मोड़कर, काम करते हुए, अपने-आपका अवलोकन न करो। अपने-आपको अवलोकन की वस्तु बनाने की गति भयंकर है। यह हमेशा असंगति पैदा करती है, जो कभी-कभी गंभीर होती है। तो, मनुष्यों का बहुत बड़ा भाग अपने-आपको करते हुए देखने में, अपने-आपको जीते हुए देखने में अपना समय बिताता है। और इससे ये बहुत ज्यादा... जिसे अंगरेजी में "सेल्फ-कॉशेस" (आत्मचेतन) कहते हैं, वैसे बन जाते हैं। यानी, निष्कपट-भाव से पूरी तरह उस चीज में लगे रहने की जगह जो वह कर रहे हैं, ऐकांतिक रूप से उसमें लगे रहने की जगह, वे अपने-आपको करते हुए निहारते हैं और अपने स्वभाव के अनुसार अपनी सराहना या निंदा करते हैं। ऐसे लोग हैं जो बड़ी भद्रता और बहुत ही संतोष के साथ अपने-आपको काम करते हुए देखते हैं, और अपने-आपको सचमुच बहुत ही विलक्षण मानते हैं। इस के विपरीत, ऐसे लोग हैं जिनमें समालोचना की भावना होती है, और वे अपना सारा समय अपनी आलोचना करने में ही बिता देते हैं। इनमें कोई किसी से अच्छा नहीं है। ये समान रूप से खराब हैं। सबसे अच्छा तो यह है कि स्वयं अपने-आप में व्यस्त न रहो। अगर तुम्हें कोई काम करना है तो सबसे अच्छा यह है कि उस काम में और स्वभावतः, उसे अच्छे-से-अच्छे ढंग से करने में व्यस्त रहो। यह हमेशा अच्छा होता है, लेकिन यह नहीं... तुम अच्छा करो या बुरा, कि तुम करते हुए अपने-आपको देखो और अपनी सराहना करो; यह एक बेकार-सी चीज है।

यह बहुत उपयोगी है कि यह पता लगाया जाय कि काम कैसे किया जाय और उसे करने का अच्छे-से-अच्छा तरीका क्या है। लेकिन अपने-आपको करते देखना और अपनी सराहना या निंदा करना न सिर्फ बेकार है, बल्कि अशुभ और अनर्थकारी है।

— 'श्रीमातृवाणी', खण्ड 6, पृ. 18-19

सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुम्हें मानसिक नीरवता प्राप्त करनी चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 13, पृ.333

*

मौन! मौन! मौन!

केवल नीरवता में ही कोई बड़ी चीज की जा सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 13, पृ.347

नीरव व स्थिर होना

मधुर मां, यहां लिखा है : “इस योग में जब तक चेतना ऊपर न उठ जाय वस्तुतः हृदय को ही एकाग्रता का मुख्य केंद्र होना चाहिये।” लेकिन हर एक की चेतना अलग-अलग स्तर पर होती है!

हां, बिल्कुल अलग-अलग। हमेशा यह कहा गया है : “यहां एकाग्र होओ, सौर चक्र पर, केंद्र में, यहां, क्योंकि तुम यहां पर सबसे ज्यादा आसानी से चैत्य पुरुष को पा सकते हो, चैत्य के साथ संपर्क साध सकते हो।” इसीलिये। इसका यही मतलब है।

एक बार चेतना उठ जाय तो हम उसे कहां पाते हैं?

सिर के ऊपर, मन के ऊपर। श्रीअरविंद का मतलब है : जब तक कि तुम मन से परे और एकदम उच्चतर स्तरों में न पहुंच जाओ, जब तक कि तुम मानव चेतना में, मन, प्राण, शरीर की चेतना में रहो, तब तक चैत्य को पाने के लिये तुम्हें एकाग्र होना पड़ता है। केवल तभी जब तुम मानव चेतना से बहुत ऊपर उठ जाओ और सचेतन रूप से मन से ऊपर के क्षेत्रों में प्रवेश करो, मन से बहुत ऊपर, तभी तुम्हें चैत्य में एकाग्र होने की जरूरत नहीं रहती क्योंकि तुम उसे स्वभावतः पा लोगे।

लेकिन मानसिक चेतना से ऊपर उठना, उच्चतर चिन्तनात्मक मन में नहीं, बल्कि सभी मानसिक गतिविधियों से ऊपर उठना आसान काम नहीं है। शुरू करने के लिये, मन को पूर्णतया नीरव और स्थिर होना चाहिये, अन्यथा तुम यह नहीं कर सकते। केवल तभी जब मन पूर्ण नीरवता में, पूर्ण स्थिरता में प्रवेश करता है, तभी जो ऊपर उठ सकते हो। लेकिन जब तक वह चलता रहे, तब तक कोई आशा नहीं।

लेकिन तुम्हें भावनाओं को चैत्य न समझ बैठना चाहिये, समझे! ये दोनों एकदम अलग चीजें हैं। लोग हमेशा यह समझते हैं कि जब उनके अन्दर भाव हो, भावनाएं हों, तो वे चैत्य में प्रवेश कर रहे हैं। इन चीजों का चैत्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, ये शुद्ध रूप से प्राणिक हैं। तुम चाहो तो कह सकते हो कि ये प्राण का सबसे सूक्ष्म भाग है, फिर भी है तो प्राण ही। तुम भावनाओं के द्वारा नहीं, बल्कि बहुत तीव्र अभीप्सा और अनासक्ति के द्वारा चैत्य की ओर जाते हो।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 6, पृ.243-44

अगर कोई “नीरवता का स्नान” चाहते हों तो वे आ सकते हैं।, उसमें कोई हर्ज नहीं। अगर कोई कभी-कदास से ज्यादा “नीरवता का स्नान” चाहते हों, तो वे आ सकते हैं, इसमें कोई हर्ज नहीं। वे उधर पीछे बैठ सकते हैं।

मैं यह व्यवस्था तुम्हारे ऊपर छोड़ती हूँ।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 13, पृ.314

*

चेतना केवल पूर्ण शांत-स्थिरता और नीरव निश्चलता में, पक्षपातों और पसंदों से मुक्त होकर ही सत्य को देख सकती है।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 13, पृ.46

नीरवता सजग एकाग्रता में

मां, जब आप कुछ कहती हैं तो हम उसे मन से समझने की कोशिश करते हैं, पर जब आप नीरवता में कुछ देती हैं तो हमें सत्ता के किस भाग पर एकाग्र होना चाहिए?

ध्यान के लिये सदा ही यह अधिक अच्छा है, — समझ रहे हो न? हम यहां “ध्यान” शब्द का प्रयोग तो कर रहे हैं पर इसका मतलब “सिर में विचारों की क्रियाशीलता” नहीं है, बल्कि ठीक इससे विपरीत है—तो ध्यान के लिये सदा ही यह अधिक अच्छा है कि उसे एक केंद्र पर एकाग्र किया जाय, उस केंद्र पर जिसे अभीप्सा का केंद्र कहा जा सकता है, जहां अभीप्सा की लौ जलती रहती है, उस सौर-चक्र के केंद्रपर अपनी सब शक्तियों को एकत्र कर लिया जाय, और यदि संभव हो तो, एक ऐसी सजग नीरवता की स्थिति प्राप्त कर ली जाय जिसमें व्यक्ति मानों किसी अत्यधिक सूक्ष्म चीज को सुनने का प्रयास कर रहा हो, किसी ऐसी चीज को जो उसकी पूर्ण सजगता, पूर्ण एकाग्रता और संपूर्ण नीरवता की अपेक्षा रखती हो, और फिर बिलकुल भी क्रियाशील न हुआ जाय। सोचे या क्रियाशील हुए बिना अपने आप को इतना खोल देना कि जो कुछ ग्रहण किया जा सकता हो वह सब ग्रहण कर लिया जाए, पर इसकी पूरी सावधानी रखते हुए कि जो वस्तु उस समय हो रही है उसे समझने की कोशिश भी न की जाय, क्योंकि यदि व्यक्ति उसे जानना, यहां तक कि ध्यान से देखना भी चाहता है तो उसमें एक प्रकार की मस्तिष्क की क्रिया बनी रहती है जो ग्रहणशीलता की पूर्णता के अनुकूल नहीं होती—नीरव रहना सजग एकाग्रता में जितना संभव है उतने समग्र रूप में नीरव रहना और फिर निश्चल हो जाना।

एकाग्रता

— ‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 7, पृ.109

यह बिल्कुल निर्विवाद है कि पूर्ण नीरव-निश्चलता पैदा करना सब चीजों में सबसे ज्यादा कठिन है, क्योंकि बहुतेरी चीजें, जिनका तुम्हें भान भी न था बहुत बड़ी हो जाती है। सब प्रकार के सुझाव, गतियां, विचार और रचनाएं तुम्हारी बाहरी चेतना में मानों यंत्रवत् चलती रहती थी, लगभग चेतना के बाहर, चेतना की सीमा पर : और जैसे ही तुम पूर्णतया निश्चल नीरव होना चाहते हो, वैसे ही तुम्हें इन सबका पता चलता है जो घूमती, चक्कर पर चक्कर लगाती फिरती रहती है और बहुत शोर मचाती है और तुम्हें नीरव होने से रोकती हैं। इसलिये ज्यादा अच्छा यह है कि बहुत शांत-स्थिर रहो, एक शांत और साथ ही अपने ऊपर की किसी चीज की ओर, जिसके प्रति तुम अभीप्सा करते हो, बहुत अधिक एकाग्र रहो और जब अगर इस तरह का शोर शराबा तुम्हारे चारों ओर मचा हो (माताजी अपना हाथ सिर के चारों ओर घूमाती हैं), तो उसकी ओर ध्यान न दो, उसे देखो भी मत, उसकी अवहेलना करो। अगर ऐसे विचार हैं जो गोल, गोल, गोल, इस तरह (संकेत) चक्कर लगाते हैं, ये आते हैं और चले जाते हैं, तो उन्हें देखो मत, उन पर ध्यान न दो, महान् अभीप्सामें (जिसे तुम रूप भी दे सकते हो) ऊपर की ओर एकाग्र होओ— रूप देना प्रायः एकाग्रता में सहायक होता है— प्रकाश की ओर, शांति, स्थिरता, एक प्रकार की आंतरिक निष्क्रियता की ओर एकाग्र होओ। **एकाग्रता इतनी मजबूत हो कि चारों ओर चक्कर लगाने वाली चीजों की ओर तुम ध्यान ही न दे पाओ।** लेकिन अगर तुम अचानक कह उठो: “आह, कुछ शोर हो रहा है। ओह, यह रहा एक विचार।”, तो मामला खत्म। तुम शांत-स्थिर होने में कभी सफल न हो सकोगे। तुमने ऐसे लोग कभी नहीं देखे जो लड़ाई को शांत करने के लिये लड़ने वालों की अपेक्षा बहुत ज्यादा जोर से चिल्लाते हैं? हां तो, यह भी कुछ वैसी ही चीज है। (माताजी हंसती हैं।)

— ‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 6, पृ.304

नीरवता में विश्राम

माताजी, नींद क्या है? क्या यह केवल शरीर को आराम की आवश्यकता है, या कुछ और?

नींद एकाग्रता और आंतरिक ज्ञान का बहुत सक्रिय साधन हो सकती है। अगर तुम वहां अपना पाठ सीखना जानो, तो नींद एक ऐसा स्कूल है जिसमें से तुम्हें गुजरना ही पड़ता है, ताकि आंतरिक सत्ता भौतिक आकार से स्वतंत्र होकर स्वयं में सचेतन हो जाये और अपने जीवनपर प्रभुत्व पा लें। सत्ता के कई पूरे-पूरे भाग ऐसे हैं जिन्हें इस निश्चलता और बाहरी सत्ता, अर्थात् शरीर की अर्ध-चेतन अवस्था की आवश्यकता होती है — ताकि वह अपना जीवन स्वतंत्र रूप से जी सकें।

केवल लोग जानते नहीं, वे सोते हैं, क्योंकि वे सोते हैं, जैसे एक तरह की सहजवृत्ति, एक अर्द्ध-चेतन आवेश के द्वारा खाते और जीते हैं, वे अपने-आपसे यह प्रश्न तक नहीं पूछते। तुम अब प्रश्न कर रहे हो : लोग क्यों सोते हैं? लेकिन हजारों, हजारों लोग स्वयं से कभी यह पूछे बिना कि वे क्यों सोते हैं, यूं ही सोते चले आये हैं। वे इसलिये सोते हैं, क्योंकि उन्हें नींद आती है, वे इसलिये खाते हैं, क्योंकि उन्हें भूख लगती है, और बिना सोचे-समझे, बिना तर्क-वितर्क किये मूर्खताएं करते हैं, क्योंकि उनकी सहज-वृत्तियां उन्हें धकेलती है; लेकिन जाननेवालों के लिये नींद एक विद्यालय है, एक उत्तम विद्यालय है, जहां वे जाग्रत अवस्था के विद्यालय से भिन्न कुछ और ही सीखते हैं।

यह एक और ही उद्देश्य के लिये, एक और ही विद्यालय है, पर है विद्यालय ही। अगर तुम यथासंभव अधिक-से-अधिक प्रगति करना चाहते हो, तो तुम्हें अपनी रातों का उपयोग करना उसी तरह जानना चाहिये जैसे तुम दिनों का उपयोग करते हो, बस, सामान्यतः, लोग यह जानते ही नहीं कि कैसे करना चाहिये, वे जागते रहने की कोशिश करते हैं, और वे बस, प्राण और शरीर का असंतुलन ही पैदा कर पाते हैं — और कभी, परिणामस्वरूप मानसिक असंतुलन भी।

भौतिक और अन्नमय भौतिक भागों को पूरी तरह विश्राम में रहना चाहिये लेकिन ऐसे विश्राम में जो निश्चेतना में गिर जाना नहीं है;— यह भी एक शर्त है। और प्राण को नीरव विश्राम में होना चाहिये। तो, अगर यह तीनों चीजें विश्राम कर रही हों : आंतरिक सत्ता, जिसका बाह्य जीवन के साथ कभी-कदास ही कोई संबन्ध होता है — क्योंकि उसको अपने-आप को अभिव्यक्त करने के लिये बाह्य जीवन बहुत अधिक शोरगुल से भरा, बहुत अधिक निश्चेतन मालूम होता है — तब, वह आंतरिक सत्ता अपने आप से अवगत हो सकती है और जाग सकती है, सक्रिय हो सकती है, और निचले भागों पर क्रिया कर सकती है, एक सक्रिय संपर्क स्थापित कर सकती है। जीवन की वर्तमान स्थिति में सक्रियता और विश्राम, विश्राम और सक्रियता को एक के बाद एक आना चाहिये। इस आवश्यकता के सिवा यह सचेतन संपर्क ही नींद का वास्तविक कारण है।

शरीर को विश्राम की आवश्यकता होती है, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, बहुत कम लोग ही सोना जानते हैं। वे इस तरह सोते हैं कि वे ताजा दम होकर नहीं उठते, उन्हें मुश्किल ही आराम मिल पाता है। यह सीखने लायक एक पूरा विज्ञान है।

फूलों की मूक भाषा

आश्रम में फूल जीवन का एक मूलभूत अंग रहे हैं। कई सालों तक माँ ने प्रत्येक दिन साधकों को फूल दिये। ऐसा फूलों का प्रेम आश्रम की सिर्फ सुन्दरता बढ़ाने के कारण नहीं किया, और न ही इसलिए कि फूल सभी देशों में पूजा अर्चना का हिस्सा है। एक साधिका सहाना देवी के शब्दों में “आश्रम में फूलों का उद्देश्य इससे कहीं ज्यादा है, यह माँ के साथ आंतरिक बातचीत करने की भाषा है, हमने अनेकों बार अपने हृदय की प्रबल इच्छाओं को फूलों के माध्यम से माँ को व्यक्त की है और उनके माध्यम से हमें उनका आशीर्वाद व संदेश मिले हैं।” लिजलि रेमंड (साधक) कहते हैं, “जिस किसी को भी उनके हाथों से फूल मिलता है वह जानता है कि यह एक सजीव मंत्र है जो कि उपयुक्त समय पर सार्थक सिद्ध होगा। सब कुछ व्यक्ति की सच्चाई व भागवत शक्ति की ओर खुलने व उनके सामने आत्मसमर्पण पर निर्भर करता है। यहां पर रूपांतरण की, प्रेरित करने की एक प्रक्रिया है जो कि स्पष्ट है। फूल एक सक्रिय अभिकर्ता है जो इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। फूलों का मूक संदेश संक्षिप्त, शुद्ध, साफ और तलवार की धार की तरह पैना होता है, जैसे किसी को फूल मिलता है, वह फूल उसके लिए प्रकाश की सीढ़ी के वो कदम बन जाते हैं जो उसे चढ़नी है।

फूल – उनके आध्यात्मिक प्रतीक, पृ. 18



Crinum Lily (White with Light Pink)

JOY OF INTEGRAL PEACE

सर्वांगीण शांति का आनन्द

Calm and tranquil,
an unfailing smile.

प्रशांति एवं नीरवता लिए
एक चिर-मुस्कान

अन्तर में पैठना अनिवार्य है

मुक्त होने का एकमात्र पथ है बस पर्दे के पीछे चले जाना और यह देखना कि उसके परे क्या है। जब तुम देख लेते हो तब तुम उसके साथ एक हो सकते हो और जब तुम तादात्म्य स्थापित कर लेते हो तब तुम्हें सच्चे रूपान्तर की चाबी मिल जाती है।

हम पढ़ते हैं, हम समझने की चेष्टा करते हैं, हम व्याख्या करते हैं, हम जानने की कोशिश करते हैं, पर सच्चे अनुभव का एक ही क्षण हमें हजारों शब्दों और सैकड़ों व्याख्याओं से कहीं अधिक सिखा देता है।

अतएव पहला प्रश्न है: “किस तरह अनुभव प्राप्त किया जाय?”

अपने भीतर पैठ जाओ, बस यही है पहला पग।

और एक बार जब तुम इतनी पर्याप्त गहराई में प्रवेश करने में सफल हो चुको कि जो कुछ अंदर विद्यमान है उसके सत्य को अनुभव कर सको तब अपने-आपको फैलाओ, धीरे-धीरे और सुव्यवस्थित रूप में अपने को विस्तारित करो और विश्व के समान विशाल बनकर सीमा की भावना को खो दो।

तैयारी करने के लिये ये दो क्रियाएं सबसे पहले आवश्यक हैं।

और इन दोनों कार्यों को यथासंभव अधिक-से-अधिक पूर्ण स्थिरता, शान्ति और निश्चलता में करना होगा। यह शान्ति, यह निश्चलता मन में निश्चल नीरवता उत्पन्न करती है और प्राण के अन्दर अचलता ले आती है।

इस प्रयास को, इस चेष्टा को तुम्हें बहुत नियमित रूप से और अध्यवसाय के साथ दुहराते रहना होगा, और कुछ दिनों के बाद, कम या अधिक दीर्घ काल के बाद, तुम एक ऐसे सत्य को देखना आरंभ कर दोगे जो तुम्हारी सामान्य बाह्य चेतना में दिखायी देनेवाले सत्य से भिन्न होगा।

स्वभावतः, भागवत कृपा के प्रभाव के कारण, अकस्मात्, एक आन्तरिक पर्दा फट सकता है और तुम यथार्थ सत्य के अन्दर तुरन्त प्रवेश कर सकते हो; परन्तु ऐसा जब होता है तब भी, यदि तुम उसका पूरा-पूरा मूल्य महत्व और उसका पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहो तो तुम्हें अपने-आपको भीतरी ग्रहणशीलता की स्थिति में बनाये रखना होगा और उसके लिये दिन-प्रतिदिन अन्तर में पैठना अनिवार्य है।

— ‘मातृवाणी’, खण्ड 10, पृ.22

भागवत् अभिव्यक्ति

इस पूर्ण नीरव शांति में एक परिपूर्ण चित्त शक्ति सोयी है।

जाग्रत हो यह समाधिस्थ इस आत्म पुरुष को जगा सकती है

इस संसार को आत्मा की चित्तशक्ति का एक पात्र बना सकती है,

इस आत्म पुरुष को मुक्त करना तो मात्र एक तेजोमय कदम है।

इस धरा पर प्रभु स्वयं को परिपूर्ण रूप में व्यक्त करना चाहते हैं।

— सावित्री, पृ.311

आंतरिक शांति का अभ्यास (पीछे हटना)

तुममें से अधिकांश लोग अपनी सत्ता के ऊपरी भाग में रहते हैं और बाहरी प्रभावों के स्पर्श के लिये खुले होते हैं। तुम लोग इस प्रकार रहते हो मानों अपने शरीर से बाहर की ओर बहुत कुछ फैले हुए हो और जब तुम ऐसे किसी व्यक्ति से मिलते हो जो वैसे ही फैला हुआ होता है पर होता है तुम्हारे लिये दुःखदायी, तब तुम उद्विग्न हो उठते हो। इस सारी तकलीफ का कारण यह होता है कि तुम पीछे की ओर हट आने के अभ्यासी नहीं होते। तुम्हें बराबर ही अपने अंदर की ओर वापस हट आना चाहिये। भीतर गइराई में पैठ जाना सीख लो— पीछे हट जाओ और तुम सुरक्षित हो जाओगे। बाहरी जगत में जो सामान्य शक्तियां काम कर रही हैं उनके हाथों में अपने-आपको मत छोड़ो। अगर तुम्हें कोई कार्य खूब जल्दी भी करना हो तो एक क्षण के लिये पीछे हट आओ, तब तुम देखोगे और आश्चर्यचकित हो जाओगे कि कितनी जल्दी और कितनी अधिक सरलता के साथ तुम्हारा काम पूरा हो जाता है। अगर कोई तुमसे नाराज हो तो उसके क्रोध के स्पंदनों के जाल में मत फंस जाओ, बल्कि पीछे की ओर हट-भर आओ और उसका क्रोध कोई आधार या प्रत्युत्तर न पाने के कारण काफूर हो जायेगा। सर्वदा अपनी शांति बनाये रखो, उसे खोने के सभी प्रलोभनों (प्रबल कारणों) का विरोध करो। बिना पीछे हटे कभी कोई निर्णय मत करो, बिना पीछे हटे कभी एक शब्द तक मत बोलो, बिना पीछे हटे कभी किसी काम में मत कूदो। सामान्य संसार से संबधित जो कुछ भी है वह सब क्षणिक और नाशवान है, इसलिये उसमें कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसके कारण तुम्हें बेचैन होने की ज़रूरत हो। जो कुछ स्थायी, सनातन, अमर और अनंत है— वही वास्तव में इस योग्य है कि हम उसे पावें, जीतें, अपने अधिकार में रखें। और वह है दिव्य ज्योति, दिव्य प्रेम, दिव्य जीवन— फिर वही है— 'सर्वोच्च शांति', 'पूर्ण आनंद' और पृथ्वी पर प्राप्त 'समस्त प्रभुत्व' जिसका मुकुट—मणि है 'पूर्ण अभिव्यक्ति'। जब तुम यह समझ जाओगे कि सभी वस्तुएं सापेक्ष हैं, अर्थात्, अपने आप में उनका कोई अस्तित्व नहीं, वे अपने अस्तित्व के लिये दूसरी किसी चीज़ पर निर्भर हैं, तो कुछ भी क्यों न घटे, तुम पीछे हट सकोगे और वहां से उसे देख सकोगे, उस समय तुम शांत—स्थिर रहकर भागवत शक्ति को पुकार सकते और उत्तर की प्रतीक्षा कर सकते हो। उस समय तुम ठीक-ठीक यह जान जाओगे कि तुम्हें क्या करना चाहिये। अतएव याद रखो कि जब तक तुम बहुत शांत—स्थिर नहीं हो जाओगे तब तक तुम उत्तर नहीं पा सकोगे। इस आंतरिक शांति का अभ्यास करो, कम से कम थोड़ा आरंभ कर दो और तब तक अभ्यास करते रहो जब तक तुम्हें शांत रहने की आदत न पड़ जाय।

— 'श्रीमातृवाणी', खण्ड 3, पृ.152-53

मन में वाद-विवाद को कैसे रोका जाय ?

पहली शर्त है, जितना हो सके उतना कम बोलो।

दूसरी शर्त है, केवल उसी चीज़ के बारे में सोचो जो तुम इस समय कर रहे हो, उसके बारे में मत सोचो जो तुम्हें करना है या जो तुम कर चुके हो।

जो हो चुका उसके लिये कभी न पछताओ और जो होनेवाला है उसकी कल्पना न करो।

जहां तक बन पड़े अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छापूर्वक आशावादी बनो।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड 12, पृ.141

नीरवता का अभ्यास

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥13॥

जैसे ठीक से न छाये घर में वृष्टि घुस जाती है, वैसे ही अभावित (असंयमित) चित्त में राग घुस जाता है।

चीन, जापान और बर्मा आदि देशों में सब प्रकार के असंख्य छोटे-छोटे बौद्ध संप्रदाय हैं और इनमें से प्रत्येक अपनी निजी पद्धति का अनुसरण करता है; परन्तु उन सबमें जो सबसे अधिक फैले हुए मत हैं उनकी एकमात्र साधना है मन को चुप करना।

वे दिन में और रात को भी घंटों बैठे अपने मन को शान्त करते हैं। यही उनके लिये समस्त अनुभूतियों की मूल कुंजी है— शान्त मन, वह मन जिसको बिना हिले-डुले घंटों शान्त रहना आता है। परन्तु तुम्हें यह विश्वास नहीं बना लेना चाहिये कि यह बहुत आसान है, परन्तु उन लोगों का दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। वे किसी विचार पर अपने मन को एकाग्र नहीं करते, वे बहुत अच्छा समझने की, अधिक जानने की, ऐसी कोई चीज करने की चेष्टा नहीं करते, उनके लिये बस यही पथ है कि शान्त-स्थिर मन को प्राप्त किया जाय और कभी-कभी इस परिणाम पर पहुंचने के लिये — मन को नीरव बनाने के लिये, उसे एकदम मौन और निश्चल बनाये रखने के लिये प्रयास करने में उन्हें बरसों-पर-बरस लगा देने पड़ते हैं। क्योंकि, जैसा कि यहां 'धम्मपद' में कहा गया है, यदि मन असंयमित हो तो एक दूसरे के बाद आनेवाले विचारों की, एक-दूसरे का खण्डन और विरोध करने वाले विचारों की, वस्तुओं के ऊपर कल्पना-जल्पना करने वाले और मस्तिष्क के अंदर जो कछ धुक्कम-धुक्का करते हैं उन सबकी यह सतत क्रिया मानों छत में बहुत सारे छेद की भांति होती है। और इन छिद्रों में से होकर सब प्रकार की अवांछित क्रियाएं चेतना में घुस आती हैं, जैसे चूनेवाली छतमें से होकर पानी घर में घुस आता है।

पर बात जो हो, मैं समझती हूं कि यह एक ऐसा अभ्यास है जो प्रत्येक व्यक्ति को यह परामर्श देता है कि मन को स्थिर, शान्त, निश्चल बनाने की चेष्टा करने के लिये प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निश्चित कर लेना चाहिये। और इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तुम्हारा मन जितना ही अधिक विकसित होगा उतना ही शीघ्र तुम यह कार्य करने में सफल होओगे; और मन जितनी अधिक अविकसित स्थिति में होगा यह कार्य उतना ही अधिक कठिन होगा।

जो लोग इस क्रम-सोपान के, अर्थात् मन के विभिन्न स्तरों के निचले भाग में हैं, जिन्होंने कभी अपने मन को शिक्षित या सुसंयमित करने का प्रयास नहीं किया है, उन्हें विचार करने के लिये बोलना आवश्यक प्रतीत होता है। यहां तक होता है कि उनकी अपनी आवाज ही उन्हें विचारों को जोड़ने की क्षमता प्रदान करती है; यदि वे मुंह से नहीं बोलते तो वे विचार भी नहीं करते। उससे उच्च स्तर पर वे लोग हैं जिन्हें विचार करने के लिये शब्दों को अभी तक अपने मस्तिष्क में चलाते रहने की जरूरत है, यद्यपि वे जोर से उनका उच्चारण नहीं करते। जो लोग वास्तव में विचार करना आरंभ करते हैं वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बिना शब्द के विचार करने में सक्षम होते हैं, अर्थात्, वे विचारों के संस्पर्श में आते हैं और उन्हें अत्यंत भिन्न शब्दों और वाक्यों के द्वारा व्यक्त करते हैं। स्तर बहुत से हैं—बहुत-से उच्चतर स्तर हैं—पर जो बिना शब्द के सोचते हैं वे ही यथार्थ में एक

बौद्धिक अवस्था में पहुंचते हैं और ऐसे लोगों के लिये मन को स्थिर करना बहुत अधिक आसान है, अर्थात्, सार्वजनिक स्थानों में से गुजरने वाले राहगीरों की तरह चलने वाले संलग्न विचारों की क्रिया को बन्द करना और नीरव होकर किसी विचार पर एकाग्र होना सरल होता है।

इस बात पर मैं जरा जोर दे रही हूँ, क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें यदि गुह्य तरीकों से मानसिक शान्ति भर दी जाय तो वे तुरंत संतुष्ट हो उठते हैं और समझने लगते हैं कि उनकी बुद्धि का लोप हो गया है। क्योंकि उस हालत में वे चिन्तन ही नहीं कर सकते, उन्हें यह भय हो जाता है कि वे जड़भरत हो जायेंगे! परन्तु चिन्तन बन्द कर देना बेहद विचारों की लड़ी बुनते जाने से कहीं उच्चतर प्राप्ति है और उसके लिए मन के बहुत अधिक विकास की आवश्यकता होती है।

अतएव, न केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि सभी दृष्टिकोणों से कुछ क्षण, कम-से-कम दो बार प्रतिदिन, नीरवता प्राप्त करने का अभ्यास करना सर्वदा ही बहुत अच्छा है, परन्तु वह सच्ची नीरवता होनी चाहिये, केवल बातचीत बन्द करना ही नहीं होना चाहिये।

आओ, अब कुछ मिनट पूर्णतः नीरव हो जाने की कोशिश करें।

(ध्यान)

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 3, पृ.186,87,88

मन को शांत करो।

मस्तिष्क को नीरव और स्थिर रखो — एक समतल भूमि की न्याई। ऊर्ध्व मुख और एकाग्र।

और प्रतीक्षा करो.... (29.9.1967)

तुम मानसिक क्रिया-कलाप के द्वारा मन को स्थिर-शांत नहीं कर सकते, तुम्हें जिस सहायता की आवश्यकता है वह किसी उच्चतर या गहनतर स्तर से प्राप्त हो सकती है। और दोनों को नीरवता में ही पाया जा सकता है।

(18.12.1971)

माताजी,

स्वतंत्र, शांत, नीरव मन बहुत अच्छी चीज है; मैं उसे ज्यादा-से-ज्यादा पाना चाहूंगा। मैं अपने अंदर विचारों और भावनाओं के भंवर से बचना चाहूंगा जो मुझे खिलौने की तरह इधर-से-उधर फेंकते रहते हैं।

यह क्रमशः आता है।

जोर मत डालो।

शान्त और विश्वस्त रहो।

(12.3.1973)

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 12, पृ. 141

शांत होकर जीना

माताजी, बाहरी क्रिया कलाप के बिखराव में आंतरिक प्रयास बहुधा बिगड़ जाता है।

जब तुम बाहरी रूप में सक्रिय हो, तो एकाग्रता को कैसे बनाये रखा जाय? ... ओह, यह बहुत कठिन न होना चाहिये। सचमुच यह बहुत कठिन न होना चाहिये। मुझे जो चीज कठिन लगती है वह है, आंतरिक चेतना की एक प्रकार की तीव्रता का न होना, उससे अलग होना; यह असंभव—सी चीज मालूम होती है। अपने अंदर एक बार इसे पकड़ लेने के बाद तुम उससे भला कैसे अलग हो सकते हो, अगर तुमने एक बार उसे पा लिया, अगर वह चेतना, चैत्य के साथ वह आंतरिक ऐक्य, चेतना और अभीप्सा की वह तीव्रता, और वह ज्वाला जो हमेशा जलती रहती है — ये चीजें अगर तुम्हारे लिये सत्य बन जायें तो तुम इनसे भला कैसे अलग हो सकते हो? लेकिन तुम चाहे कुछ भी क्यों न करो, वह बुझ नहीं सकती, हमेशा बनी रहती है।

मुझे लगता है कि एक बार यह आ जाय, तो अपने—आपको इससे अलग करने के लिये तुम्हें दरवाजा बंद करना पड़ेगा, जान—बूझकर उसके सामने, यूँ दरवाजा बंद करना पड़ेगा, और कहना होगा : “अब मुझे इसमें कोई रस नहीं।” लेकिन अगर तुम्हारे अंदर सचमुच संपर्क बनाये रखने की इच्छा हो, तो मुझे यह बहुत कठिन नहीं लगता। मुझे लगता है इससे मुंह मोड़ने के लिये तुम्हारे अंदर जबरदस्त इच्छा होनी चाहिये, तभी वह दूर जा सकता है; अन्यथा वह हर चीज के, सभी चीजों के पीछे निरंतर बना रहता है। और इसके विपरीत, अगर तुमने यह आदत डाल ली हो कि कुछ भी कहते समय, कोई क्रिया करते समय, या कुछ भी करते समय, उससे — यहां अंदर, पूछ लो, और उसकी सहायता के बिना, कुछ भी करने के लिये अपने—आपको असमर्थ अनुभव करो, ताकि वह तुमसे कहे : “हां, ऐसे करो; वैसे नहीं। यह नहीं, वह नहीं, यह,” फिर उसके बिना जीना कठिन है।

कुछ लोग जान—बूझकर धड़ाम से, यूँ दरवाजा बंद कर देते हैं, क्योंकि इससे (चैत्य संबन्ध से) उन्हें तकलीफ होती है, क्योंकि यह उनके आवेगों पर नियंत्रण रखता है, और वे बिलकुल स्वतंत्र और मुक्त अनुभव करना चाहते हैं (जिसे वे स्वतंत्र होना कहते हैं), वे इसे बंद करने के लिये, यूँ धड़ाम से दरवाजा दे मारते हैं। और फिर, एक बार यूँ दरवाजा बंद हो जाए, तो बंद रहता है; तब आदमी कितना उथला, कितना कमजोर, कितना ओछा, कितना अज्ञानी, कितना मूर्ख हो जाता है! आदमी ऐसा होना सह कैसे सकता है? मुझे तो लगता है कि तुरंत स्वाभाविक वृत्ति यह होगी कि एक कदम पीछे हटो, जल्दी से दरवाजा खोलो और फिर से संपर्क बना लो और कहो : “नहीं, नहीं, नहीं, यह स्थिति नहीं, अज्ञान की यह भयावह स्थिति नहीं” — उस स्थिति में तुम्हें यह भी नहीं मालूम होगा कि तुम्हें क्या कहना चाहिये, या क्या न कहना चाहिये, तुम्हें क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। तुम्हें कहां जाना चाहिये और कहां न जाना चाहिये; कुछ नहीं, कुछ भी नहीं, तुम एक अंधेरी, असंबद्ध विशालता में होते हो। यह एक भयानक दशा होती है। लेकिन जब दरवाजा खुला हो और यह चीज पीछे हो, तो यह हर क्षण पूरी तरह सुखद होती है, मानों तुम अपनी पीछे एक विशाल ज्योति, एक विशाल चेतना से टिकाये हुए हो, यूँ... “आहा, लो, हम यहां पहुंच गये, यही तो है जिसे करना चाहिये, वही है कहने लायक बात, यह क्रिया करनी चाहिये,” आदि। तब, व्यक्ति आराम से, शांत, बिना किसी व्यथा के, बिना किसी समस्या के, बिना किसी चिंता के रहता है। आदमी जो करना चाहता है करता है; चाहे

लोग उसे ठीक तरह लें या न लें, यह उनकी बात है, लेकिन उसके अपने लिये तो यही ठीक है।

इस बात का ध्यान रखो कि यह मैं इसलिये कह रही हूँ, क्योंकि तुम सबके आंतरिक द्वार खोलने के लिये मैं अधिक-से-अधिक सावधानी बरतती हूँ, अगर तुम्हारे अंदर जरा-सी... एकाग्रता की छोटी-सी क्रिया हो, तो तुम्हें उस बंद दरवाजे के सामने लंबी अवधि नहीं बितानी पड़ेगी, जो हिलता तक नहीं, जिसकी तुम्हारे पास चाबी भी नहीं है, और जिसे तुम खोलना तक नहीं जानते — कभी-कभी तो घंटों तक, दिनों तक, महीनों या कभी-कभी वर्षों तक तुम्हें दरवाजे से नाक चिपकाये रहना पड़ता है, और फिर भी, तुम यह नहीं जान पाते कि क्या करना चाहिये।

तुम लोगों के लिये ऐसा नहीं है, मेरे बच्चों।

दरवाजा खुला हुआ है, केवल तुम्हें इस ओर से देखना चाहिये। तुम्हें उससे मुंह नहीं मोड़ना चाहिये।

तो, बस?

— 'श्रीमातृवाणी', खण्ड 7, पृ.68-69

अंतरात्मा के नीरव प्रदेश में

हमारे विशालतर आत्मतत्त्व से विलग करती
जड़ता की ये मृत रूढ़ि दीवारें
हमे चहुं ओर से घेर एक गुप्त आभासी
निद्रा में डुबो रखती है,
हमारे जाग्रत विचारों से परे के
रहस्यमय पथ पर,
एक बंद द्वार खुल गया जिसे जड़तत्व
की ऊर्जा ने बनाया था,
इसने पार्थिव चेतना द्वारा अग्राह्य
वस्तुओं को प्रकटा दिया:
यह एक अदृश्य जगत्, बाहरी मन जिससे
अनजान था
उसकी अंतरात्मा के नीरव प्रदेशों में प्रकट हो गया।

— सावित्री, पृ. 27

निश्चल नीरवता में मन को विश्राम

मानसिक पवित्रीकरण का यह कार्य खूब नियमित रूप से करना चाहिये और तभी अपने कार्यों के ऊपर हमारा पूर्ण अधिकार सुरक्षित रह सकता है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उत्तम यह है कि थोड़ा सा समय दैनिक रूप में नियत रखा जाय जब हम अपने विचारों को चुपचाप देखें और अपने समन्वय के भीतर यथास्थान सजाकर रखें। एक बार जहां इस बात की आदत पड़ गयी कि फिर तुम अपने विचारों के ऊपर, कार्यादि के भीतर भी, संयम बनाये रख सकोगे और इस योग्य हो जाओगे कि जो कार्य तुम कर रह हो उसके लिये जो विचार उपयोगी नहीं है उन्हें सामने न आने दो।

एकाग्रता तीव्र हो जाने पर, यह आवश्यक हो कि चिंतन बिलकुल किया ही न जाय, तो समस्त मानसिक प्रकंपन बंद करके प्रायः पूर्ण निश्चल-नीरवता प्राप्त की जा सकती है। इस निश्चल-नीरवता के अंदर मनुष्य धीरे-धीरे उच्चतर मानस क्षेत्रों की ओर खुल सकता है और वहां से अंतः प्रेरणाएं आती हैं उन्हें स्मरण रखना सीख सकता है।

परंतु इस अवस्था के प्राप्त होने से पहले भी निश्चल-नीरवता अपने-आप में अत्यंत उपयोगी चीज है। जिन लोगोंका मन कुछ विकसित और क्रियाशील होता है उनमें से अधिकांश का मन कभी शांत नहीं रहता। दिन के समय, उनकी क्रिया पर एक प्रकार का संयम रहता है; पर रात के समय, शरीर की निद्रा की अवस्था में, जाग्रत अवस्था के संयम के प्रायः संपूर्ण रूप में हट जाने पर, मन अत्यधिक क्रियाशील हो जाता है और उनकी सारी क्रियाएं बहुधा असंबद्ध होती हैं। इसके कारण मन पर एक प्रकार का जोर पड़ता है जो अंत में थकावट ले आता है और मानसिक शक्तियों को कम कर देता है।

असली बात यह है कि मानव सत्ता के अन्य सभी भागों की तरह मन को भी विश्राम की आवश्यकता होती है और उसे यह विश्राम तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि हम यह न जान लें कि यह दिया कैसे जाता है। अपने मन को विश्राम देने की कला एक ऐसी चीज है जो हमें-अवश्य आयत्त करनी चाहिये। मन को विश्राम देने का एक तरीका है मन के कार्य को बदलते रहना; परंतु सबसे अधिक विश्राम की संभावना विद्यमान है निश्चल-नीरवता के अंदर। जहां तक मानसिक वृत्तियों का संबंध है, निश्चल-नीरवता की शांति में कुछ मिनट बिताने का अर्थ होता है घंटों सोने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायी विश्राम लेना।

जब हम अपनी इच्छानुसार मन को निश्चल-नीरव बनाना और ग्रहणशील निश्चल-नीरवता में उसे एकाग्र करना सीख जायेंगे तब ऐसी कोई समस्या नहीं रह जायगी जिसे हम हल न कर सकें, कोई ऐसी मानसिक कठिनाई नहीं रह जायगी जिसका कोई समाधान न प्राप्त हो जाय। जब विचार चंचल होता है तब वह अस्त-व्यस्त और शक्तिहीन हो जाता है; सजग शांति के अंदर ही ज्योति प्रकट हो सकती है और मनुष्य की क्षमताओं के नवीन क्षेत्रों को उन्मुक्त कर सकती है।

— 'श्रीमातृवाणी', खण्ड 12, पृ.36-37

धैर्य के साथ स्थिर एवं अचंचल बने रहना

प्राण एक अच्छा कार्यकर्ता है, परंतु अधिकांश में वह अपनी तुष्टि की चेष्टा करता है। अगर उसकी कामना पूरी नहीं की जाती है, चाहे वह पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में भी, तो वह झुंझला जाता है और नाराज हो जाता है और हड़ताल कर बैठता है। फलस्वरूप, कम या अधिक पूर्ण रूप से, शक्ति विलीन हो जाती है और अपने स्थान में मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति विराग, निरुत्साह या विद्रोह, अवसाद और असंतोष छोड़ जाती है। ऐसे मौकों पर मनुष्य को स्थिर-अचंचल बने रहना चाहिये और क्रिया करना अस्वीकार कर देना चाहिये, क्योंकि ऐसे ही समय में लोग मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठते हैं और जिस चीज को उन्होंने महीनों निरंतर प्रयास करके प्राप्त किया होता है उसको, उसके द्वारा प्राप्त की हुई सारी उन्नति को, वे कुछ मिनटों में ही बिगाड़ या चौपट कर सकते हैं। ये सब कठिन परिस्थितियां उन सब लोगों के लिये कम टिकाऊ और कम खतरनाक होती है जिन्होंने अपने हृत्पुरुष के साथ ऐसा संस्पर्श स्थापित कर लिया है जो उनके अंदर अभीप्सा की ज्योति को सजीव रखने के लिये और जिस आदर्श को सिद्ध करना है उसका बोध बनाये रखने के लिये पर्याप्त है। वे लोग इस चेतना की सहायता से, धैर्य और लगन से अपने प्राण के साथ एक विद्रोही बच्चे की तरह व्यवहार कर सकते हैं, उसे सत्य और ज्योति दिखा सकते हैं, उसमें विश्वास जमाने का और जो सदिच्छा कुछ समय के लिये आच्छादित हो गयी थी, उसे उसमें जगाने का प्रयास कर सकते हैं। ऐसे धैर्यपूर्ण हस्तक्षेप की सहायता से प्रत्येक कठिन परिस्थितियों को एक नयी प्रगति के रूप में, लक्ष्य की ओर बढ़े हुए एक नये पग के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। प्रगति धीमी हो सकती है, पतन बार-बार हो सकता है, पर यदि साहसपूर्ण संकल्प बनाये रखा जाय, तो यह निश्चित है कि हम एक दिन विजयी होंगे और यह देखेंगे कि सभी कठिनाइयाँ सत्य की जाज्वल्यमान चेतना के सामने गल गयी या विलीन हो गयी हैं।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 12, पृ.15

अनुभूति को अभिव्यक्त न करना हितकर

सभी बोले हुए शब्दों का मूल्य बातचीत के विषय पर निर्भर है। तुम आध्यात्मिक विषयों पर भी उसी तरह बकवास कर सकते हो जैसे किसी और विषय पर। लेकिन इस प्रकार की बकवास सबसे अधिक भयंकर बकवासों में से एक हो सकती है। उदाहरण के लिये, नया साधक जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता है उसे औरों में बांटने के लिये बहुत उत्सुक रहता है। लेकिन जैसे वह मार्गपर आगे बढ़ता है उसे अधिकाधिक पता लगता है कि वह बहुत नहीं जानता और औरों को सिखाने का प्रयास करने से पहले उसे अपने ज्ञान के मूल्य के बारे में निश्चित होना चाहिये जबतक कि अंत में वह बुद्धिमान् न हो जाए और यह अनुभव न करने लगे कि कुछ मिनटों तक उपयोगी बात करने के लिये घंटों की नीरव एकाग्रता की जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त, आंतरिक जीवन और आध्यात्मिक साधना के बारे में वाणी के उपयोग पर कठोर ज्यादा अनुशासन रखना होगा और जब तक एकदम आवश्यक ही न हो कुछ न कहा जाय।

यह भली-भांति जाना हुआ तथ्य है कि अगर तुम अपनी अनुभूति में इकट्ठी की गयी शक्ति को, जो तुम्हारी प्रगति को तेज करने के लिये है, क्षण-भर में गायब होते नहीं देखना चाहते तो तुम्हें अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के बारे में कभी न बोलना चाहिये।

इसमें केवल एक ही अपवाद हो सकता है – गुरु, जब तुम उनसे अपनी अनुभूति के बारे में कोई व्याख्या चाहो या उसके अर्थ के संबंध में कोई आदेश चाहो। वास्तव में, तुम केवल अपने गुरु के सामने ही इन चीजों के बारे में बिना किसी भय के बोल सकते हो, क्योंकि केवल गुरु अपने ज्ञानद्वारा तुम्हारी अनुभूति के तत्त्वों को तुम्हारी भलाई के लिये नयी चढ़ाई के सोपान में बदल सकते हैं।

यह सत्य है कि गुरु भी स्वयं अपनी निजी बातों के बारे में इसी तरह नीरवता के नियम के अधीन होते हैं। प्रकृति में हर चीज गतिशील है; अतः जो आगे नहीं बढ़ता वह पीछे हटने के लिये बाधित है। अपने शिष्य की भांति गुरु को भी आगे बढ़ना चाहिये, चाहे उनकी प्रगति उसी स्तर पर न हो। उनके लिये भी अपनी अनुभूति के बारे में बोलना हितकर नहीं है : अनुभूति की गतिशील शक्ति को शब्दों में प्रकट किया जाय तो वह बड़ी हद तक भाप बनकर उड़ जाती है। दूसरी ओर, शिष्यों को अपने अनुभव समझाकर गुरु उनकी समझ और उनकी प्रगति में प्रबल सहायता पहुंचाते हैं। उन्हें अपनी समझ के अनुसार यह जानना होगा कि किस हद तक एक की दूसरे के लिये बलि चढ़ायें। यह तो जाननी-मानी बात है कि उनके वर्णन में शेखी या अहंमन्यता का प्रवेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि जरा-सा अभिमान उन्हें गुरु की जगह पाखंडी बना देगा।

रही बात शिष्य की, तो उससे मैं कहूंगी : “हर हालत में अपने गुरु के प्रति निष्ठावान् बने रहो, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो; तुम जितनी दूर तक जा सको वह तुम्हें उतनी दूर तक ले जायेंगे। लेकिन अगर तुम्हें भगवान् को ही गुरु के रूप में पाने का सौभाग्य प्राप्त हो तो तुम्हारी उपलब्धि की कोई सीमा न होगी।”

अंत में, मैं तुमसे यह कहूंगी : यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी वाणी सत्य को अभिव्यक्त करे और भागवत शब्द की शक्ति प्राप्त करे तो पहले से मत सोचो कि तुम क्या कहोगे, यह निश्चय न करो कि क्या कहना अच्छा या बुरा होगा, यह हिसाब न लगाओ कि जो तुम कहनेवाले हो उसका क्या प्रभाव होगा। अपने मन में नीरव रहो और ‘सर्व प्रज्ञा’, ‘सर्व ज्ञान’, ‘सर्व चेतना’ के लिये सतत अभीप्सा के सच्चे भाव में स्थिर रहो। तब अगर तुम्हारी अभीप्सा निष्कपट है, अगर यह चीजों को अच्छी तरह करने और सफल होने की महत्वाकांक्षा को छिपाने के लिये एक आवरण नहीं है, अगर वह शुद्ध, सहज और सर्वांगीण है तो तुम सरलता के साथ बोल सकोगे, वही शब्द बोलोगे, जो बोले जाने चाहिए, न अधिक, न कम और उनमें सर्जक शक्ति होगी।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 12, पृ.69, 70

माँ भगवती

वह स्वर्ण सेतु है, अलौकिक दिव्याग्नि है।
 परम अज्ञेय का दीप्तिमान हृदय भी वह है,
 प्रभु की अथाह गहनताओं में नीरवता की एक शक्ति है;
 वह आदिशक्ति है, सृष्टि हित अनिवार्य आदि शब्दब्रह्म है,
 वह अदिति माता है जिससे हमारे आदित्य प्रज्ज्वलित होते हैं,
 वह दिव्य ज्योति है जो अगम्य परात्परों से नीचे झुक आती है,
 वह आत्मप्रसाद है जो असंभव उच्चता से संकेत कर बुलाती है,
 वह समष्टि की परमाशक्ति है जो अभी तक यहां कभी अवतरित नहीं हुई है।

— सावित्री, पृ. 314

स्वयं को वश में करने की कोशिश करना

जब तुम किसी विजय की संभावना का प्रतिनिधित्व करते हो, तो हमेशा तुम्हारे अन्दर उस विजय से विपरीत वस्तु भी होती है जो तुम्हारी चिरस्थायी कठिनाई होती है।

हर एक की अपनी कठिनाई होती है। और, मेरा ख्याल है, मैं एक बार उदाहरण दे चुकी हूँ। उदाहरण के लिये, जिस सत्ता को निर्भयता, साहस का प्रतिनिधित्व करना है। कहीं पर बहुत भयानक रूप से, भीरु होता है और उसे लगभग हमेशा ही इसके विरुद्ध संघर्ष करते रहना पड़ता है क्योंकि वह उस विजय का प्रतिनिधि है जो उसे संसार में पानी है।

यह ऐसी सत्ता की तरह है जिसे अच्छा बनना, करुणा और उदारता से भरपूर होना है; अपनी सत्ता के किसी भाग में वह तीखा, कटु और कभी-कभी खराब भी होता है; और दूसरी चीज बनने के लिये उसे इनके विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। और इस तरह चलता रहता है। यह बात सभी व्योरो में लागू होती है। तो बात ऐसी है।

जब तुम कहीं बहुत काली छाया देखो, बहुत ही काली, कोई ऐसी चीज जो सचमुच कष्टजनक हो, तो तुम इस बात से निश्चित हो सकते हो कि तुम्हारे अन्दर उसके अनुरूप प्रकाश की संभावना है।

जीवन में, तुम अचेतन रहते हो, तुम अपना सारा जीवन एकदम अस्पष्ट अर्ध-चेतना में बिताते हो, तुम अपने बारे में कुछ नहीं जानते, बस एक आभास, मात्र और कुछ नहीं। और तुम हमेशा अपने उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहोगे और इस कारण कठिनाई के हृदय में जाकर बाधा को नहीं देख पाते, बस एक आभास रहता है; तुम सब आभासों के बीच में रहते हो। बस, यही बात है। इसलिये तुम्हारी गलतियां छोटी होती हैं, तुम्हारे गुण छोटे होते हैं, तुम्हारी क्षमताएं साधारण होती हैं और कठिनाइयां साधारण होती हैं, तुम निरंतर पूरी तरह साधारण होते हो।

केवल तभी जब तुम सिद्धि के पथ पर चलना शुरू करते हो, तुम्हारी संभावनाएं वास्तविक बन जाती हैं और तुम्हारी कठिनाइयां कहीं अधिक विशाल बन जाती हैं — एकदम स्वाभाविक रूप से। वस्तुएं तीव्र और घनीभूत हो उठती हैं।

इसीलिये मैं लोगों से कहती हूँ : “अगर तुम साधारण जीवन की परिस्थितियों में अपने अन्दर शांति और नीरवता नहीं ला सकते, अपने अंदर प्रवेश करने के लिये पर्याप्त रूप में स्वयं को अलग नहीं कर सकते, तो निश्चित रूप से इस स्थान पर तुम उसे नहीं कर सकते, क्योंकि तुम्हारी पहली मुश्किल यह होगी कि तुम्हें लगेगा कि हर चीज और हर व्यक्ति तुम्हारे ऊपर आक्रमण कर रहा है और तुम अपने-आपको पृथक् करने में एकदम असमर्थ पाओगे। अगर तुमने यह यहां आने के पहले सीख लिया हो, तो अच्छा है। लेकिन अगर तुम यह करना नहीं जानते, तो तुम्हें यहां पर यह करना बहुत कठिन लगेगा।

और सभी चीजों के लिये बात यही है। जिनका बुरा स्वभाव होता है, उदाहरण के लिये जिनका गुस्सा काबू में नहीं रहता, उनका हाल सामान्य जगत् की अपेक्षा यहां अधिक बुरा होता है, क्योंकि सामान्य जगत् में वे जीवन की सभी आवश्यकताओं के वश में रहते हैं, उदाहरण के लिये जब वे दफ्तर में जाते हैं, अगर वहां अफसर के विरुद्ध भड़क उठें, तो उन्हें बाहर निकाल दिया जायेगा। जब कि यहां, हम उन्हें निकाल नहीं देते; उनसे बस कहा जाता है : “स्वयं को वश में करने की कोशिश करो।”

भौतिक सत्ता में शांति

“..... शरीर में सहन करने और परिस्थितियों से मेल बैठाने की विलक्षण क्षमता है। हम जो कुछ कल्पना कर सकते हैं उससे बहुत अधिक चीजें करने की क्षमता उसमें है। अभी जो अज्ञ और स्वेच्छाचारी मालिक इस पर शासन करते हैं उसकी जगह यह यदि सत्ता के केंद्रीय सत्य के द्वारा शासित हो तो हम यह देखकर आश्चर्य चकित रह जायेंगे कि इसमें क्या-क्या करने की क्षमता निहित है।”

*

“..... तब इस स्वस्थ और संतुलित जीवन में शरीर के अंदर एक नया सामंजस्य प्रगट होगा जो उच्चतर लोकों के सामंजस्य को प्रतिबिंबित करेगा और शरीर को आकार का पूर्ण सुडौलपन तथा आदर्श सौंदर्य प्रदान करेगा।”

*

जैसे ही शरीर वर्द्धमान सामंजस्य की गति का अनुसरण करना सीख जायेगा वैसे ही रूपांतर की एक सतत् प्रक्रिया के द्वारा विघटन और विनाश की आवश्यकता से बच निकलना उसके लिए संभव हो जायेगा। ‘सत्य’ के चारों गुण हमारी सत्ता में स्वयं ही अभिव्यक्त होंगे। चैत्य वाहन होगा सच्चे और विशुद्ध प्रेम का, मन होगा अचूक ज्ञान का, प्राण अभिव्यक्त करेगा अजेय शक्ति और बल को और शरीर अभिव्यक्ति होगा पूर्ण सौंदर्य और पूर्ण सामंजस्य की।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 4, पृ. 53 से 56



PEACE IN THE PHYSICAL भौतिक सत्ता में शांति

To want, what god wants is the best condition for it.
जो भगवान् चाहते हैं, वही चाहना भौतिक सत्ता की
शांति के लिए सबसे उत्तम अवस्था है।

—श्रीमाँ

शांति और नीरवता स्थापित करना

हम मन में स्थिर शांति और नीरवता कैसे स्थापित कर सकते हैं ?
सबसे पहले तुम्हें उसकी चाह करनी चाहिये।

और फिर, तुम्हें कोशिश करनी और लगे रहना चाहिये। कोशिश करते रहो... शुरू के लिये, तुम चुपचाप बैठ जाओ और तब पचासों चीजों के बारे में सोचने की जगह तुम अपने-आप से "शांति, शांति, शांति, शांति, शांति, स्थिरता, शांति," कहना शुरू करो। तुम शांति और स्थिरता की कल्पना करो। अभीप्सा करो, यह माँगों कि वह आ जाये: "शांति, शांति, स्थिरता।" और जब कोई चीज़ आये, तुम्हें छुए और क्रिया करे तो अचंचलता के साथ कहो: शांति, शांति, शांति,। "विचारों की ओर मत देखो, विचारों पर कान न दो, समझे। जो भी चीज़ आये उसकी और तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये। तुम जानते हो कि जब कोई तुम्हें बहुत तंग करता है और तुम्हें उससे पिंड छुड़ाना हो तो तुम उसकी नहीं सुनते, सुनते हो क्या? अच्छा। तुम अपना मुंह फेर लेते हो (संकेत), और किसी और चीज़ के बारे में सोचते हो। तो, तुम्हें वही करना चाहिये: जब विचार आये तो उनकी तरफ मत देखो, उनकी मत सुनो, उनकी और ज़रा भी ध्यान न दो, ऐसे व्यवहार करो, मानों वे हैं ही नहीं, समझे। और फिर, सारे समय इस तरह दोहराते रहो-कैसे कहूँ? एक मूढ़ की तरह, जो सारे समय एक ही बात दोहराता रहता है। तुम भी उसी की तरह करो, दोहराते जाओ: "शांति, शांति, शांति।" तुम कुछ मिनटों के लिये यह प्रयास करो और फिर, तुम्हें जो करना हो करो, और फिर, एक बार, फिर से शुरू करो, बैठ जाओ और प्रयास करो। सवेरे उठते समय यह करो, रात को सोते समय यह करो। तुम यह कर सकते हो... देखो अगर तुम अपना भोजन भली-भाँति हज़म करना चाहो तो खाने से पहले कुछ मिनट यही करो। तुम कल्पना नहीं कर सकते कि इससे तुम्हारे पाचन को कितनी सहायता मिलेगी। खाना शुरू करने से पहले थोड़ी देर के लिये चुप-चाप बैठ जाओ और कहो: "शांति, शांति, शांति।" और सब कुछ स्थिर हो जाता है। (माताजी दोनो बांहे दोनो तरफ़ फैलाती है), और तब तुम्हें जारी रखना चाहिये: तब ऐसा समय आता है जब तुम्हें बैठने की ज़रूरत नहीं होती, तुम चाहे कुछ भी क्यों न कर रहे हो, तुम चाहे कुछ भी कह रहे हो, हमेशा "शांति, शांति, शांति," चलता रहता है। हर चीज़ ऐसे रहती है (माथे के आगे संकेत), वह अंदर नहीं आ सकती। ऐसे ही रहती है। और तब तुम हमेशा पूर्ण शांति में रहते हो ... कुछ वर्षों के बाद।

लेकिन आरंभ में, यह बहुत ही छोटा आरंभ होता है, दो-तीन मिनट, यह बहुत सरल है। ज्यादा जटिल चीज़ के लिये तुम्हें प्रयास करना पड़ता है, और जब तुम प्रयास करते हो तो अचंचल नहीं रह सकते। अचंचल रहते हुए प्रयास करना कठिन है। बहुत सरल, बहुत सरल, इन चीज़ों में तुम्हें बहुत सरल होना चाहिये। यह ऐसा है मानों तुम अपने मित्र को बुलाना सीख रहे हो : बुलाने के संकेत से ही वह आ जाता है। हाँ, तो शांति और स्थिरता को अपना मित्र बना लो, और उन्हें बुलाओ : "आओ, शांति, शांति, शांति, शांति, आओ।"

— 'श्रीमातृवाणी', खण्ड 6, पृ.307-08

"तुम पूछते हो: 'अभी तक भगवान क्यों नहीं आये हैं?'" क्योंकि तुम तैयार नहीं हो। यदि जरा सी एक बूंद के आ टपकने पर तुम गाते और नाचते और चीखते-चिल्लाते हो तो यदि समूची चीज़ नीचे आ जाय तो क्या होगा? अतएव जिन लोगों के शरीर, प्राण और मन में प्रयाप्त सुदृढ़ और विस्तृत आधार नहीं है, उनसे हम कहते हैं: 'खींचो मत, मतलब, 'भगवान की शक्तियों को जबरदस्ती अपनी ओर खींचने की कोशिश मत करो, बल्कि स्थिरता और शांति के साथ प्रतीक्षा करो'। क्योंकि वे अवतरण को सहन नहीं कर सकते। परंतु जिनके अंदर आवश्यक आधार विद्यमान है, उनसे हम उलटा कहते हैं, 'अभीप्सा करो और खींचो'। क्योंकि वे ग्रहण करने में समर्थ होंगे और फिर भी भगवान् से आने वाली शक्ति से बदहवास नहीं होंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 4, पृ. 95, 96

नीरवता की अनुभूति से ही रूपांतर संभव

यदि कोई जीवन का रूपांतर करना चाहता है, यदि कोई चाहता है कि मन, प्राण, शरीर और दैनिक कार्यों—पर आध्यात्मिक अनुभूतिका प्रभाव पड़े तो इसे मानसिक रूप देने और अनिवार्य ह्रास को स्वीकारने से तब तक नहीं बचा जा सकता जब तक कि स्वयं मन ही रूपांतरित न हो जाये और अनुभूति को विकृत किये बिना उसमें भाग लेने के योग्य न बन जाये।

हम जो करना चाहते हैं वह और भी कठिन है, क्योंकि हम चाहते हैं कि प्राण भी रूपांतरित हो और अनुभूति को विकृत किये बिना उसमें भाग ले सकें और अंत में, स्वयं भौतिक शरीर तक आध्यात्मिक क्रिया से रूपांतरित हो जाय और अनुभूति में बाधक न बना रहे।

साधारण विचार के लिये रूपांतर की बात को स्वीकार करना सबसे अधिक कठिन है, क्योंकि इसका मतलब है लगभग उसकी क्षमता को बदल डालना। इस रूपांतर को संभव बनाने के लिये सब क्रियाओं को बदलना होगा, पर हम इस क्षमता और इसकी क्रिया को अभिन्न रूप में देखने के इतने अभ्यस्त है कि हम अपने—आपसे पूछते हैं कि हम जिस तरह सामान्यतया सोचते हैं उससे अलग ढंग से भी सोचना संभव है क्या?

यह तभी संभव है जब किसी को मानसिक स्तर पर पूर्ण नीरवता की अनुभूति हो चुकी हो और आध्यात्मिक शक्ति अपनी ज्योति और बल के साथ मन में से होकर नीचे उतर आये और इससे विश्लेषण, निगमन और तर्कणा के साधारण तरीके का अनुसरण किये बिना, सीधा काम करा सके। इन सब क्षमताओं को, जो आम तौर से मन की प्राकृतिक क्षमताएं, समझी जाती हैं, रोक देना चाहिये, और अपनी अभिव्यक्ति के लिये इन उपायों से गुजरे बिना ही आध्यात्मिक 'ज्योति', 'ज्ञान' और शक्ति को इन्हें सीधी अभिव्यक्ति की धारा में रूपांतरित कर सकना चाहिये।

मन अपने बाह्यतम रूप में कर्म का साधन है, व्यवस्थित और कार्यान्वित करने का यंत्र। यह विचारों को क्रम से सजाता है, उनका आपस में संबंध जोड़ता है, उनके काम के लिये निष्कर्ष निकालता है और इस काम को प्रेरणा और आवेग देता है। इस व्यवस्था—शक्ति और काम की प्रेरणा और आवेग को ही सीधा आध्यात्मिक शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है जो मानसिक चेतना पर अधिकार कर लेती है और विश्लेषण, निगमन और तर्कणा की वे प्रतिक्रियाएं आवश्यक नहीं रह जाती। अंतर्भास में ये चीजे पहले से ही कुछ कुछ इसी ढंग से होती हैं, लेकिन आध्यात्मिक हस्तक्षेप मानों अति अंतर्भास बन जाता है, अनुभव के अंतर्दर्शन की तादात्म्य द्वारा प्राप्त ज्ञान की सीधी अभिव्यक्ति हो जाता है।

—श्रीमातृवाणी, खण्ड 9, पृ. 368,69

1. केवल स्थिर और शान्त बने रहो और मानव स्वभाव तुम पर जो सीमाएं आरोपित करता है उनमें रहते हुए अपना अच्छे से अच्छा करो। आखिर पूरी की पूरी जिम्मेदारी प्रभु की है और किसी की नहीं, इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं है।
2. हमेशा स्थिर और शान्त रहने के बारे में बहुत सावधान रहो और सम्पूर्ण समचित्तता को अधिकाधिक पूर्णता के साथ अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होने दो। अपने मन को बहुत अधिक सक्रिय होकर हो—हल्ले और विक्षोभ में न रहने दो, चीजों के ऊपरी आभास से ही परिणामों तक न जा पहुंचो। जल्दबाजी न करो, एकाग्र होकर स्थिरता में ही निश्चय करो।

—दैनन्दिनी अगस्त, 2015

‘शब्द’ का क्या अर्थ है ?

‘शब्द इसका अर्थ उच्चारित शब्द और वाणी नहीं है। कुछ पुरानी परंपराएं कहती हैं प्रकाश हो जाय और प्रकाश हो गया।

“यहां ‘शब्द’ एक मंत्र है। किंतु यह बिल्कुल असाधारण वस्तु है, यह ध्वनिका प्रयोग तभी करता है जब आत्मा में सुगठित संकल्प-शक्ति नीचे, जड़-पदार्थ में उतरना और उस पर सीधा कार्य करना चाहती है – वह शब्द का ही नहीं, ध्वनिका, ध्वनि के स्पंदन का भी प्रयोग करती है – यह स्वयं जड़ पदार्थ पर और जड़ पदार्थ में कार्य करने के लिये करती है। यह एक विपरीत क्रिया है। तुम शब्दों में सूत्रबद्ध विचार के क्षेत्र में हो, फिर वहां से तुम अधिक ऊंचा उठ सकते हो और नीरव विचार की अभिव्यक्ति पा सकते हो, इसके बाद उससे भी ऊपर, और अधिक ऊपर ऊंचा उठकर तुम ‘शक्ति को प्राप्त कर सकते हो : ‘शक्ति ही वह ‘चेतना’ है जो विचार का मूल स्रोत है। तो यह किसी सूत्रबद्ध अभिव्यक्त एवं सूत्रबद्ध वस्तु के स्थान पर समग्र चेतना बन जाती है। दूसरे शब्दों में तुम ऊपर उठकर ठीक मूल स्रोत पर पहुंच जाते हो। वहां से, एक बार जब तुम स्वयं इस प्रकाश को, स्वयं उस चेतना को पा लो और किसी परिणाम तक पहुंचने के लिये जड़ पदार्थ पर कार्य करना चाहो, तो यह संकल्प एक स्तर से दूसरे स्तर तक उतरता है, और जैसे-जैसे यह अधिकाधिक ठोस रूप धारण करता है, वैसे-वैसे अपने आपको शब्दों में यहां तक के एक शब्द में ही स्पष्टतया निरूपित करता है, और जब यह जड़ पदार्थ का स्पर्श करता है तो एक नीरव शब्द रहने के स्थान पर ध्वनियों द्वारा उच्चारित शब्द बन जाता है : एक ऐसा स्पंदन जो जड़ पदार्थ पर सीधा कार्य करेगा। किंतु इससे पहले व्यक्ति को सीधा ऊपर उठना होगा ताकि वह दुबारा नीचे आ सके। इससे पहले कि वह नीचे आकर यह कार्य कर सके, उसे नीरव चेतना तक पहुंचना होगा। इसे ऊपर से ही आना होगा, इस शब्द का स्रोत ऊपर ही होगा, किसी मध्यवर्ती क्षेत्र में नहीं। हां, तो यही वह ‘शब्द’ है। पर तुम्हें वैसा ही करना होगा जैसा कि मैंने कहा है – यह कोई सरल बात नहीं है।

उन सबके लिये अभीप्सा को मूल रूप में सच्चा, वास्तविक और पूर्ण होना चाहिये। और यह अभीप्सा सब शब्दों से मुक्त होनी चाहिये, केवल एक नीरव वृत्ति, किंतु अत्यधिक तीव्र और अविचलित। एक शब्द को भी उसमें प्रवेश करने और उसे क्षुब्ध करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये। इसे अभीप्सा के स्पंदनों के एक स्तंभ के समान होना चाहिये जिसे कोई स्पर्श न कर सके— और संपूर्ण नीरवता में और तब, यदि कुछ नीचे आयेगी, तो जो वस्तु अवतरित होगी (और यह तुम्हारे मन में शब्दों में अनूदित होगी और तुम्हारे मुह में ध्वनियोंमें) वह ‘शब्द’ होगी। किंतु इससे कम में काम नहीं चलेगा। अच्छा, तो यह रहा। फिर मिलेंगे, मेरे बच्चों, शुभ-रात्रि।

—‘श्रीमातृवाणी, खण्ड 6 पृ. 96,97,98

नव वर्ष सन्देश

1 जनवरी 1954

“प्रभो, इस वर्ष, सबको आपकी यह सलाह है किसी बात के लिए शेखी मत बघारो, अपने कार्य को अपने लिए बोलने दो। ”

विचार के सच्चे क्षेत्र में शब्द नहीं होते, चेतना की अवस्थाएं होती हैं।

अनुभव में निश्चल रहना सीखना

अपने मन में अनुभव को मूर्त रूप देने से बहुत पहले तुम्हें अनुभव प्राप्त होता है और वह उस मूर्त रूप से बहुत अधिक परे होता है। अनुभव उसे मूर्त रूप देने की क्षमता से पहले, बहुधा बहुत पहले आता है अनुभव में एक परिपूर्णता एक शक्ति प्रकृति पर सीधे कार्य करने की सामर्थ्य एक तुरंत तत्काल कार्य करने की शक्ति होती है। आओ एक उदाहरण के रूप में इस बात को लें कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अथवा किसी असाधारण कृपा शक्ति के द्वारा तुम्हारा सम्पर्क एकाएक किसी अति मानसिक ज्योति शक्ति या चेतना के साथ हो गया है। यह तुम्हारे बंद खोल में एक आकस्मिक उद्घाटन की तरह उस अपारदर्शी आवरण में एक रंघ के जैसा होता है (जो 'सत्य' से तुम्हें पृथक करता है) और संपर्क स्थापित हो जाता है। उसी क्षण यह शक्ति, यह चेतना, यह ज्योति कार्य करती है, यहां तक कि तुम्हारे, भौतिक कोषों पर भी कार्य करती है, यह मन में कार्य करती है, प्राण में, शरीर में कार्य करती है, स्पंदनों को बदलती है, उपादान को व्यवस्थित करती है और रूपांतर का अपना कार्य आरंभ करती है। तुम इस आकस्मिक संपर्क तथा कार्य के आघात के अधीन होते हो।

तुम्हारे लिये यह एक प्रकार की अवर्णनीय, अकथनीय स्थिति होती है जो तुम्हें अधिकृत कर लेती है और जिसके बारे में तुम्हें किसी प्रकार की स्पष्ट, यथार्थ, सुनिश्चित कल्पना नहीं है... वह है ... "ऐसी कोई चीज जो होती है"। उससे तुम्हारे ऊपर यह छाप पड़ सकती है कि वह अद्भुत या भयंकर है, पर तुम्हारे लिये वह अकथनीय और दुर्बोध है। यही है अपने सार-रूप में वह अनुभव और उसकी सच्ची शक्ति।

सबसे पहला कर्तव्य है अपने मन को निश्चल रहना सिखाना : "सबसे पहले हिलो डुलो मत। सबसे पहले हिलो डुलो मत, क्या हो रहा है यह जानने कि इच्छा किये बिना उस चीज को पूरी तरह विकसित होने दो, मूढ़ मत बनो, शांत बने रहो, स्थिर रहो और प्रतीक्षा करो। तुम्हारी बारी बहुत जल्दी, हमेशा ही आयेगी, कभी अत्यधिक देर नहीं होगी।" किसी अनुभव को अपने सम्मुख निरूपित करने की आवश्यकता अनुभव किये बिना निरंतर कई घंटों तथा कई दिनों तक जीना संभव होना चाहिये। जब कोई ऐसा करता है तो वह उससे पूरा फायदा उठाता है। तब वह कार्य करता है, वह प्रकृति को मथता है, कोषों को रूपांतरित करता है वह रूपांतर का सच्चा कार्य आरंभ करता है। परंतु जैसे ही तुम देखना, समझना और सूत्रबद्ध करना आरंभ करते हो, वह अनुभव भूतकाल की वस्तु बन जाता है। अच्छा बस।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 8, पृ. 354-56

सबसे अधिक मत्वपूर्ण चीज है एकाग्रता

जब तुम अपनी एकाग्रता में एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त कर लो और यदि इस पूर्णता को दीर्घकाल तक बनाये रख सको तो एक दरवाजा खुल जाता है और तुम अपनी सामान्य चेतना की सीमा के परे चले जाते हो — तुम एक गंभीरतर या उच्चतर ज्ञान में प्रवेश कर जाते हो अथवा अपने अंदर पैठ जाते हो। तब तुम एक प्रकार की चकाचौंध करने वाली ज्योति का, एक आंतरिक चमत्कार का, एक प्रकार के आनन्द, पूर्णज्ञान, पूर्ण निश्चल-नीरवता का अनुभव करते हो।

इस अनुभव को प्राप्त करना पूरी तरह इस बात पर निर्भर है कि अपनी एकाग्रता को उसकी पूर्णता के सर्वोच्च शिखर पर पर्याप्त लंबे काल तक बनाये रखने की तुममें कितनी क्षमता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 4, पृ. 9

श्रीअरविन्द के पत्रों से

शान्ति और उसके आधार पर होनेवाली क्रिया, ये दो उस एकमेव का पहला पक्ष है जिसे अपने को प्रतिष्ठित करना होता है। आनन्द और प्रकाश इतनी जल्दी या इतनी आसानी से स्थिर नहीं होते — उन्हें क्रमशः विकसित होना होता है।

*

उस नीरवता में जिसे हम प्रथम नीरवता कह सकते हैं, ऐसा ही होता है — यह एक ऐसी एकान्तिक नीरवता होती है जिसमें कोई भावावेग या अन्य आन्तरिक प्रवृत्ति नहीं होती। जब यह गहरी हो जाती है तो व्यक्ति बौद्धों के निर्वाण का या वेदान्तियों के आत्मबोध का अनुभव कर सकता है। शक्ति और आनन्द दोनों या उनमें से कोई एक, नीरवता के भीतर उतर सकते हैं और उसे स्थिर तपस् नीरव आनन्द से परिपूर्ण कर सकते हैं।

*

तुमसे यह किसने कहा कि जब कभी नीरवता या असली नीरवता आयेगी तब ज्ञान भी नीचे उतरेगा? ऊपर से आनेवाली किसी भी वस्तु के लिये नीरवता एक उपयुक्त आधार है, लेकिन इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि नीरवता स्थापित होने पर प्रत्येक वस्तु अपने-आप ही नीचे उतरने के लिये बाध्य हो जायेगी।

*

शान्ति का आगमन शुद्ध और मुक्त पुरुष के अनुभव की प्राप्ति को अधिक सुलभ बना देता है।

*

तुम्हें जो अनुभव हुआ वह हर्ष और शोक से, कामना से, चिन्ता या व्याकुलता से अस्पष्ट सच्चे पुरुष का अनुभव है; विशाल स्थिर-धीर और शान्ति से परिपूर्ण यह बाह्य सत्ता की हलचलों को उसी प्रकार देखता है जैसे कोई बच्चों का खेल देख रहा हो। यथार्थ में यही तुम्हारे भीतर का भगवत् तत्व है। तुम इसमें जितना अधिक स्थिर रह सकोगे साधना की नींव उतनी ही अधिक दृढ़ बनेगी। इस पुरुष में ही सब उच्चतर अनुभूतियां, भगवान् के साथ एकता, प्रकाश, ज्ञान, बल, आनन्द, श्रीमां की उच्च शक्ति की लीला प्रकट होगी। यह सब सदैव ही स्थिर नहीं हो जाता, यद्यपि कुछ लोगों में ऐसा होता भी है किन्तु यह अनुभूति तब तक बारम्बार आती और देर तक ठहरती है जब तक यह सामान्य प्रकृति से ओर अधिक आच्छादित नहीं होने पाती।

*

पुरुष और आत्मा में कोई भेद नहीं। चैत्य है अन्तरात्मा जो क्रम विकास में विकसित होता है— आत्मा है पुरुष जो क्रम विकास से प्रभावित नहीं होता, उससे ऊपर होता है—हां, वह मन, प्राण और शरीर की प्रवृत्तियों से आवृत या प्रच्छन्न रहता है; इस आवरण को हटा देना ही है आत्मा की मुक्ति— और यह हटता तब है जब पूर्ण और विशाल आध्यात्मिक नीरवता आ जाती है।

*

जब मनुष्य स्थिर, नीरव, विशाल, वैश्व पुरुष के विषय में सचेतन हो जाता है तो फिर वह अज्ञान से आवृत नहीं रहता, जब व्यक्ति मन, प्राण, और शरीर एवं उनकी

क्रियाओं या उनके तुच्छ अहं के साथ नहीं किन्तु पुरुष के साथ तादात्म्य सिद्ध कर लेता है, तो यह पुरुष की मुक्ति होती है।

*

तुम्हारे अन्दर जो चीजें उतरने की चेष्टा कर रही हैं वे हैं पुरुष की नीरवता और शान्ति — जब वह पूरी तरह आ जाती है तो अहंमूलक बोध नहीं रहता, वह पुरुष की नीरवता और शान्ति की विशालता में डूब जाता है। पर यह उपलब्धि पहले पुरुष की निश्चल-स्थिति में ही होती है — तो भी अहं तो भूतकाल की आदतों के कारण गतिशील क्रियाओं में रह सकता है। पर प्रत्येक बार जब अहंकारिक क्रिया का परित्याग किया जाता है तो अहं के विलय का भाव अधिकाधिक गहरा और पूर्ण होता जाता है। जो वस्तु तुम्हारे अन्दर प्रवेश करने की चेष्टा कर रही है शायद उसके किसी प्रभाव ने ही तुम्हें स्पर्श किया है।

*

हां, जब सब जगह शान्ति और विशालता छा जाती है तो व्यक्तित्व का भाव पूर्णतया लुप्त हो सकता है। मनुष्य को अनुभव होता है कि शान्ति एवं विशालता उसका अपना स्वरूप है, पर व्यक्तिगत अर्थ में नहीं — क्योंकि वह अन्य प्रत्येक व्यक्ति का भी 'आत्मा' है। आगे जाकर एक और प्रकार के 'मैं' का भी अनुभव हो सकता है किन्तु यह विश्वभावापन्न 'मैं' होता है जो अन्य सब को समाविष्ट करता है और अन्य प्रत्येक व्यक्ति के साथ समस्वर होता है एवं स्वयं भगवान् में समाया होता है। यही वह वस्तु है जिसे योगी लोग कभी-कभी क्षुद्र अहं के विपरीत 'विशाल' अहं कहते हैं। मैंने इसके सम्बन्ध में इसे सच्चा व्यक्ति नाम देकर लिखा है।

*

ऊपर से उतरनेवाली शान्ति यदि समग्र सत्ता में प्रतिष्ठित हो जाय तो वह निम्नतर क्रिया को रोक सकती है। परन्तु यदि व्यक्ति सत्ता के गतिशील पक्ष को भी योग की प्रणालियों के अनुसार विकसित करना चाहे तो यह पर्याप्त नहीं होता।

*

यह उच्चतर चेतना की नीरवता और स्थिरता ही है जो शरीर में नीचे की ओर दबाव डाल रही है। जब यह पूर्णतया नीचे उतर जाती है तो पहले 'अचल प्रतिमा' की सी अनुभूति होती है। बाद में स्थिरता या नीरवता मुक्त और सामान्य हो जाती है।

— श्री अरविन्द के पत्र, 117-122

“चाहे बहुत अंधेरा क्यों न हो—और यह जगत् और मनुष्यों की भौतिक प्रकृति उससे भरे हैं—फिर भी सच्चे प्रकाश की एक किरण भी अन्ततः दस गुने अंधेरे पर विजय पा लेगी। इस पर विश्वास करो और हमेशा इससे चिपके रहो।”

*

शांति एक गहरी अचंचलता है जहाँ कोई बाधा नहीं आ सकती। ऐसी अचंचलता जिसमें सुरक्षा और मुक्तता का बोध प्रतिस्थापित है।

— श्री अरविन्द

सचेतन होना

अगर तुम सचेतन हो तो जान सकोगे कि कौन सी चीज तुम्हें नीरव बना रही है, कौन-सी चीज तुमसे ध्यान करवा रही है, किस प्रकार की शक्ति ने तुम्हारे अन्दर प्रवेश किया है या तुम्हारे ऊपर कार्य कर रही है या तुम पर प्रभाव डाल रही है और तुम्हें नीरव बना रही है। चूंकि तुम सचेतन नहीं होते, इसलिये तुम केवल कार्य से, परिणाम से, यानी, उस नीरवता से अवगत होते हो जो तुम्हारे अन्दर आती है।

लेकिन, मधुर मां, हम सचेतन हो सकते हैं ना?

पूरी तरह से! लेकिन इसके लिए तुम्हें अपने अन्दर कुछ काम करना होगा। ऊपरी सतह से अपने-आपको अलग कर लेना होगा।

प्रायः सभी, हर एक व्यक्ति सतह पर रहता है, सारे समय, सतह पर रहता है। कुछ लोग हैं जिन्हें अगर सतह से पीछे हटाया जाये, तो अचानक उन्हें ऐसा लगता है मानों टुकड़े-टुकड़े होकर किसी खाई में गिर रहे हैं, वे इस हद तक अचेतन होते हैं।

वे केवल एक छोटी, पतली-सी पपड़ी के बारे में सचेतन होते हैं। वे अपने बारे में, चीजों के बारे में, जगत् के बारे में बस, इतना ही जानते हैं, यह पपड़ी इतनी पतली होती है! बहुत-से लोग! ऐसे बहुत से लोग मेरे पास आये, पता नहीं कितनी ही बार... ऐसे लोग आये जिन्हें मैंने अन्तर्मुख करने की कोशिश की, और तुरन्त उन्हें ऐसा लगा मानों वे किसी खाई में, और कभी-कभी तो अन्धेरी खाई में गिर रहे हों। तो यह चरम अचेतना है। लेकिन यह एक पतन है, किसी ऐसी चीज में पतन जो उनके लिये असत्-की तरह है, ऐसा बहुधा होता है। लोगों से कहा जाता है : "बैठो, और नीरव रहने का, बहुत शांत रहने का प्रयत्न करो", यह चीज उन्हें बहुत भयभीत कर देती है।

बाहरी चेतना से निकलने पर जीवन में वृद्धि का अनुभव करने के लिये काफी लम्बी तैयारी की जरूरत होती है। यह अपने-आप में बड़ी प्रगति है। और फिर चरम-बिंदु है, जब तुम किसी-न-किसी कारण बाहरी चेतना में वापिस आने को बाधित होते हो, तो वहां तुम्हें किसी काले छेद में गिरने का भान होता है, कम-से-कम किसी नीरस, निर्जीव धूसरता में, कम-से-कम रोशनीवाली अव्यवस्थित चीजों के अस्तव्यस्त मिश्रण में गिरने का भान होता है, और यह सब इतना धुंधला, इतना नीरस, इतना मृत प्राय लगता है कि व्यक्ति आश्चर्य करता है कि ऐसी अवस्था में रहना कैसे संभव है—लेकिन यह दूसरा छोर है—अवास्तविक, मिथ्या, अस्तव्यस्त निर्जीव!

— 'श्रीमातृवाणी' खण्ड 7, पृ.272-273

सत्य चैतन्य को प्राप्त करना

आवश्यकता इस बात की है कि हमारे अंदर एक ऐसी अभीप्सा हो जो हमारी सत्ता के अंदर एक स्थायी अग्नि की तरह जलती रहे और जब हमारे अन्दर कोई कामना, अभिरुचि व आकर्षण उठे तब उसे इस अग्नि में झोंक दिया जाए। यदि तुम इसे लगातार करते रहो तो देखोगे कि तुम्हारी सामान्य चेतना के अन्दर सत्य-चैतन्य की एक क्षीण किरण उदित होने लगी है। प्रारंभ में वह धीमी होगी, कामनाओं, अभिरुचियों, आकर्षणों और पसंदगियों के समस्त कोलाहल से दूर होगी। परन्तु तुम्हें इन सबके पीछे जाना होगा और उस सत्य-चैतन्य को प्राप्त करना होगा जो पूर्ण स्थिर, प्रशांत और लगभग निश्चल-नीरव है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड 4, पृ. 3, 4

पूर्ण विश्राम में प्रवेश करना

मधुर मां, अपनी रात से लाभ उठाने के लिये, अच्छे स्वप्नों के लिये, क्या यह जरूरी है कि हम रात को देर तक कोई बौद्धिक कार्य न करें, या हम रात को बहुत देर से न खायें, या कोई भी बाहरी चीज न करें ?

यह हर एक पर निर्भर है, लेकिन निश्चय ही, अगर तुम रात को शांति से सोना चाहते हो, तो ठीक सोने से पहले तक नहीं पढ़ना चाहिये। अगर तुम कोई ऐसी चीज पढ़ो जो एकाग्रता की मांग करती हो तो तुम्हारा मस्तिष्क चलता ही रहेगा, और इस तरह तुम अच्छी तरह न सोओगे। जब मन काम करता है तो तुम विश्राम नहीं करते।

आदर्श है पूर्ण विश्राम में प्रवेश करना, अर्थात् शरीर में निश्चलता, प्राण में पूर्ण शांति, मन में पूर्ण नीरवता का होना— और सभी क्रियाओं से निकलकर चेतना का सच्चिदानंद में जाना। अगर तुम यह कर सको, तो जागते समय तुम एक असामान्य शक्ति, एक संपूर्ण आनंद के भाव के साथ उठोगे। लेकिन ऐसा करना बहुत आसान नहीं है इसे किया जा सकता है, यह आदर्श अवस्था होती है।

साधारणतः ऐसा कभी नहीं होता, और अधिक समय, नींद के प्रायः सभी घंटे अव्यवस्थित सी क्रियाओं में नष्ट हो जाते हैं, तुम्हारा शरीर पलंग पर छटपटाता है, तुम लातें मारते हो, करवटें बदलते हो, उछल पड़ते हो, कभी इधर, कभी उधर करवटें बदलते हो, फिर तुम यूं (संकेत) करते हो, फिर यूं...। इस तरह तुम जरा भी विश्राम नहीं पाते।

—‘श्री मातृवाणी’, खण्ड 7 पृ.129

आत्मा की शाश्वत शांति

बाह्य रूप की नश्वरता के पीछे और परे भी कोई चीज है; कोई चिरस्थायी, संतोषप्रद और स्वतः पर्याप्त वस्तु भी है। सात्विक प्रकृति जिस चीज को प्राप्त करना चाहती है वह है उच्चतर मन तथा अंतरात्मा की परितृप्ति और जब वह एक बार अपनी खोज का यह बृहत् लक्ष्य प्राप्त कर लेती है तो अंतरात्मा का शुद्ध और निर्मल सुख, पूर्णता की एक अवस्था, स्थायी शांति और निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। यह अध्यात्म सुख बाह्य वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता, बल्कि यह निर्भर करता है केवल हमारे अपने ऊपर और साथ ही हमारे अंदर जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ तथा अंतरतम है उसके प्रस्फुटन के ऊपर। परंतु शुरु—शुरु में यह सुख हमारी सामान्य संपदा नहीं होता; इसे आत्म—साधना, आत्मिक पुरुषार्थ और उच्च एवं कठोर प्रयास के द्वारा अर्जित करना होता है। आरंभ में इसका अर्थ होता है अभ्यस्त सुख की अत्यधिक हानि, बहुत अधिक कष्ट और संघर्ष हमारी प्रकृति के मंथन से, शक्तियों के दुःखदायी संघर्ष से उत्पन्न हलाहल, हमारे अंगों की दुष्प्रवृत्ति या प्राणिक चेष्टाओं के आग्रह के कारण परिवर्तन के प्रति अत्यधिक विद्रोह और विरोध, परंतु अंत में इस कटु गरल के स्थान पर अमृतत्व की सुधा समुद्भूत होती है और जैसे—जैसे हम उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति की ओर आरोहण करते जाते हैं वैसे—वैसे हमारे दुख का अंत होता जाता है, शोक—संताप का अनायास ही लोप होता जाता है। यही वह निरतिशय सुख है जो सात्विक साधना की परिणति की चरम चूड़ा या सीमा पर हमारे ऊपर अवतरित होता है।

सात्विक प्रकृति का आत्म—अतिक्रमण केवल तभी संपन्न होता है जब हम महान् पर अभी भी अपेक्षाकृत हीन सात्विक सुख से परे, मानसिक ज्ञान और पुण्य एवं शांति से

मिलनेवाले सुखों से परे जाकर आत्मा की शाश्वत शांति और दिव्य एकत्व का आध्यात्मिक परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

गीता-प्रबन्ध, पृ. 530-531

— श्री अरविन्द

भगवान् से ऐक्य

शान्ति निर्वाण परमां मत्संस्थामधि गच्छति

गीता में ज्ञान और कर्म के साथ राजयोग की विशिष्ट ध्यान प्रक्रिया भी बतायी गयी है जो एक शक्तिशाली अभ्यास है।

इस प्रक्रिया में बतलाया गया है कि, योगी आत्मा से युक्त रहने का सतत प्रयास व अभ्यास करें, ताकि अभ्यास करते-करते यह अवस्था उसकी साधारण चेतना बन जाय।

मन को स्थिर और निर्भय रखें और इस प्रकार संयत समग्र चित्तवृत्ति को भगवान् में ऐसे लगावें कि चैतन्य की निम्नतर क्रिया उच्चतर शान्ति में निमज्जित हो जाय। क्योंकि साधना का लक्ष्य निर्वाण की नीरव निश्चल शान्ति को प्राप्त होना है। “इस प्रकार नियत मानस होकर सतत योग में लगा हुआ योगी निर्वाण की उस परम शान्ति को प्राप्त होता है जिसकी नींव मेरे अन्दर है (शान्ति निर्वाण परमां मत्संस्थामधिगच्छति)।

निर्वाण की यह परम शान्ति तब प्राप्त होती है जब चित्त पूर्णतया संयत और कामनामुक्त होकर आत्मा में स्थित रहता है, जब वह निर्वात स्थान में स्थित दीपशिखा के समान अचल होकर अपने चंचल कर्म करना बन्द कर देता है, अपनी बहिर्मुख वृत्तियों से अन्दर खिंचा हुआ रहता है और जब मन के निश्चल नीरव हो जाने के कारण अन्तर में आत्मा का दर्शन होने लगता है, मन में आत्मा का विकृत भान नहीं, बल्कि आत्मा में ही आत्मा का साक्षात्कार होता है, मन के द्वारा अयर्थार्थ व आंशिक रूप में नहीं, अहंकार में से प्रतिभात होने वाले रूप में नहीं, बल्कि स्वप्रकाश रूप में। तब जीव तृप्त होकर अपने वास्तविक परमसुख को अनुभव करता है, वह अशान्त सुख नहीं जो मन और इन्द्रियों को प्राप्त है, बल्कि वह आंतरिक और प्रशान्त आनन्द जिसमें मन का कोई विक्षोभ नहीं, जिसमें स्थित होकर पुरुष अपनी सत्ता के आध्यात्मिक सत्य से कभी च्युत नहीं होता।

इसी अविच्छेद्य आध्यात्मिक आनन्द की सुदृढ़ प्राप्ति का नाम योग, अर्थात् भगवान् से ऐक्य है; यही लाभों में सबसे बड़ा लाभ है, यह वह धन है जिसके सामने अन्य सब संपत्तियों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए पूर्ण निश्चय व उत्साह के साथ कठिनाई या विफलता के अधीन हुए बिना, इस योग को तब तक किये जाना चाहिये जब तक ब्रह्म निर्वाण का आनन्द सदा के लिए प्राप्त न हो जाय।

गीता प्रबन्ध, पृ. 252-53

—श्री अरविन्द

आन्तरिक गति का पहला परिणाम

साधना में एक चरण ऐसा आता है जब आन्तरिक सत्ता जाग्रत होने लगती है। प्रायः प्रथम परिणाम की अवस्था में निम्नलिखित तत्व होते हैं :

1. एक प्रकार का साक्षी मनोभाव होता है जिसमें आन्तरिक चेतना सभी घटनाओं पर एक दर्शक या प्रेक्षक के रूप में, उनमें सक्रिय रूचि या सुख का अनुभव न करते हुए, केवल दर्शक के रूप में दृष्टिपात करती है।
2. एक तटस्थ समता का भाव होता है जिसमें न हर्ष होता है न विषाद, केवल स्थिरता होती है।
3. जो कुछ घटता है उससे अलग होने का भाव रहता है, तुम उसे देखते जरूर हो, लेकिन उसका भाग नहीं बन जाते।
4. वस्तुओं, व्यक्तियों या घटनाओं के प्रति आसक्ति का अभाव। ऐसा लगता है जैसे यह अवस्था तुम्हारे अन्दर आने का प्रयास कर रही थी; लेकिन यह अभी तक अपूर्ण है।

उदाहरण के लिए, इस अवस्था में ऐसा होना चाहिये।

1. जब लोग बातचीत करें तब जुगुप्सा, अधीरता या क्रोध नहीं होना चाहिये, केवल तटस्थ निश्चलता, उदासीनता के साथ ही आन्तरिक शान्ति और नीरवता।
2. केवल तटस्थ निश्चलता और उदासीनता ही नहीं, बल्कि स्थिरता, अनासक्ति और शान्ति का एक सकारात्मक बोध भी होना चाहिये।
3. शरीर से बाहर नहीं जाना चाहिये जिससे कि तुम यह जान ही न पाओ कि क्या हो रहा है या तुम क्या कर रहे हो। ऐसा बोध तो हो सकता है कि तुम शरीर नहीं हो बल्कि कुछ और हो — यह अच्छा है; किन्तु तुम्हारे अन्दर या तुम्हारे चारों ओर क्या हो रहा है? उस सबकी जानकारी पूरी तरह होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त, यह अवस्था यदि पूर्ण हो तब भी, एक अन्तर्वर्ती चरण है— वह है स्वतंत्रता तथा मुक्ति की एक विशेष स्थिति लाना। लेकिन उस शान्ति में, भागवत उपस्थिति की अनुभूति, तुम्हारे ऊपर कार्य करती भगवती माता की शक्ति का बोध, हर्ष या आनन्द का अनुभव अवश्य होना चाहिये।

यदि तुम हृदय के साथ-साथ मस्तक में भी एकाग्र हो सको, तब ये चीजें अधिक आसानी से आ सकती हैं।

SABCL खण्ड 23, पृ. 1002-03

— श्रीअरविन्द

अन्तर्ज्ञानात्मक मन

अन्तर्ज्ञानात्मक मन एक ऐसे तत्व के रूप में प्रकट होता है जो मन के अर्धप्रकाशों, उसकी शक्यताओं और सम्भावनाओं, उसके नाना पहलुओं, उसकी अनिश्चित निश्चितताओं तथा स्थापनाओं को अपनी विद्युत्प्रभाओं से आलोकित करता है और इन वस्तुओं के द्वारा गोपित या अर्द्धगोपित एवं अर्द्धव्यक्त सत्य को प्रकाशित करता है। सत्य अपनी उच्चतर क्रिया में यह अतिमानसिक सत्य की प्रथम रश्मि लाता है।

योग समन्वय, पृ. 828

— श्री अरविन्द

अन्तर्ज्ञानात्मक मन के कार्य

साधारण मानसिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करती हुई अन्तर्ज्ञानशक्ति विद्युत् की प्रभाओं के रूप में कार्य करती है जो सत्य के एक प्रदेश को आलोकित कर देती है, पर यह सूर्य की वह स्थिर ज्योति नहीं है जो हमारे विचार, संकल्प, भाव और कर्म के सम्पूर्ण विस्तृत क्षेत्र और राज्य को सुरक्षित रूप से प्रकाशमान कर देती है। इससे यह तुरन्त ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि इस ओर प्रगति करने के लिये दो आवश्यक दिशाएं हैं जिनका हमें अनुसरण करना चाहिये। पहली यह है कि हम अन्तर्ज्ञान की क्रिया का विस्तार करते जायें तथा उसे अधिक स्थिर, दृढ़, नियमित एवं सर्वग्राही बनाते चले जायें जिससे अन्त में वह हमारी सत्ता के लिए इतनी अन्तरंग और सामान्य हो जाये कि जो-जो कार्य आज साधारण मन के द्वारा किये जाते हैं उन सभी को वह अपने हाथ में ले सकें तथा सम्पूर्ण आधार में उसका स्थान ग्रहण कर सकें। यह कार्य पूर्ण रूप से तब तक नहीं किया जा सकता तब तक साधारण मन स्वतंत्र कार्य और हस्तक्षेप करने की अपनी शक्ति को या अन्तर्ज्ञान की ज्योति पर अधिकार जमाकर उसे अपने कार्यों के लिये प्रयुक्त करने के अपने स्वभाव को बलपूर्वक समर्थित करता रहता है। उच्चतर मन तब तक पूर्णतया सुरक्षित नहीं बन सकता जब तक निम्न बुद्धि उसे विकृत करने में अथवा यहां तक कि उसके अन्दर अपना किसी प्रकार का मिश्रण करने में भी समर्थ रहती है। और, उस दशा में हमें या तो बुद्धि को तथा बौद्धिक संकल्प एवं अन्य निम्न क्रियाओं को सर्वथा शान्त करके केवल अन्तर्ज्ञान की क्रिया को ही अवकाश देना होगा या फिर निम्न क्रिया को अपने अधिकार में लाकर अन्तर्ज्ञान के सतत दबाव से रूपान्तरित करना होगा। अथवा, इन दोनों विधियों को बारी-बारी से एवं मिलाकर प्रयुक्त करना होगा यदि यही उपाय सबसे अधिक स्वाभाविक हो या यदि यह किंचित भी सम्भव हो। योग की क्रियात्मक प्रक्रिया एवं अनुभव यह दिखलाता है कि अनेक विधियां या क्रियाएं सम्भव हैं जिनमें से कोई भी अकेली व्यवहार में पूरा परिणाम उत्पन्न नहीं करती, भले प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत क्यों न हो कि तर्कतः प्रत्येक विधि या क्रिया परिणाम उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये या हो सकती है। और जब हम किसी विशेष विधिपर एकमात्र यथार्थ विधि के रूप में आग्रह न करना सीख जाते हैं तथा सम्पूर्ण क्रिया को एक महत्तर पथ-प्रदर्शन पर छोड़ देते हैं तो हम देखते हैं कि योग का दिव्य स्वामी हमारी सत्ता और प्रकृति की आवश्यकता और दिशा के अनुसार विभिन्न समयों पर किसी एक या दूसरी विधि का किंवा एक साथ सभी का उपयोग करने का कार्य अपनी शक्ति को सौंप देता है।

पहले-पहल ऐसा प्रतीत होगा कि मन को सर्वथा नीरव कर देना, बुद्धि, मानसिक और वैयक्तिक संकल्प, कामनामय मन तथा भावप्रधान एवं संवेदनात्मक मन को नीरव कर देना और उस पूर्ण नीरवता में परम पुरुष, परम आत्मा एवं भगवान् को स्वयं प्रकट होने देना तथा अतिमानसिक ज्योति, शक्ति एवं आनन्द के द्वारा अपनी सत्ता को आलोकित करने का कार्य उन पर छोड़ देना ही सीधा और ठीक मार्ग है, और निःसंदेह यह एक महती और शक्तिशालिनी साधना है। स्थिर और शान्त मन ही क्षुब्ध और सक्रिय मन की अपेक्षा कहीं अधिक आसानी से और अधिक महान् पवित्रता के साथ अनन्त की ओर खुलता है, परम आत्मतत्त्व को प्रतिबिम्बित करता है, परम आत्मा से ओत-प्रोत हो जाता है और एक समर्पित एवं परिपूत मन्दिर की भांति हमारी समस्त सत्ता और प्रकृति के प्रभु के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा करता है यह ठीक भी है कि इस नीरवता की स्वतन्त्रता अन्तर्ज्ञानात्मक सत्ता की बृहत्तर लीला को सम्भव बना देती है तथा अन्दर से उद्भूत या ऊपर से

अवतरित होनेवाले महान् अन्तर्ज्ञानों, अन्तःप्रेरणाओं और साक्षात्कारों को मानसिक अन्धान्वेषण एवं आक्रमण की किसी बड़ी बाधा और गड़बड़ी के बिना प्रवेश करने देती है। अतः यह एक बड़ी भारी प्राप्ति होगी कि हम मन की एक पूर्ण शान्ति एवं नीरवता को, जो मानसिक चिन्तन या हलचल और क्षोभ की किसी भी आवश्यकता से मुक्त हो, अपनी इच्छा के अनुसार आयत्त करने में सदा समर्थ होने की योग्यता प्राप्त कर सकें तथा उस नीरवता की नींव पर स्थित होकर, अपने अन्दर विचार, संकल्प और वेदन को तभी घटित होने दें जब भागवत शक्ति ऐसा चाहे और जब भागवत उद्देश्य के लिये ऐसा होना आवश्यक हो। तब विचार, संकल्प और वेदन के ढंग तथा स्वरूप को परिवर्तित करना अधिक सुगम हो जाता है। तथापि यह कहना ठीक नहीं कि इस विधि से अतिमानसिक ज्योति तुरन्त ही निम्न मन तथा चिन्तनशील बुद्धि का स्थान ले लेगी। नीरवता के बाद जब आन्तरिक क्रिया शुरू होगी, तब वह चाहे प्रधानतया अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तना और क्रिया ही क्यों न हो, फिर भी पुरानी शक्तियां हस्तक्षेप करेंगी, यदि वे अन्दर से हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगी तो बाहर से सैंकड़ों हस्तक्षेप करेंगी, साथ ही एक निम्नतर मानसिकता उसके अन्दर आकर मिल जायेगी, महत्तर क्रिया के बारे में सन्देह उत्पन्न करेगी अथवा उसमें बाधा डालेगी या उसपर अधिकार जमाने की चेष्टा करेगी तथा ऐसा करते हुए उसे क्षुद्रतर या अन्धकारमय या विकृत करने या उसका मूल्य अधिक से अधिक गिराने का यत्न करेगी। अतएव, निम्न मन के उच्छेद या रूपान्तर की प्रक्रिया की आवश्यकता सदा ही अटल रूप में बनी रहती है,—या शायद उच्छेद और रूपान्तर दोनों ही एक साथ आवश्यक होते हैं, जो चीजें निम्न सत्ता के सहजात अंग हैं। उन सबका उच्छेद, उसके विरूपताजनक गुण—धर्मों का, मूल्य को कम करने तथा तत्व को विकृत करने की उसकी वृत्तियों का तथा ऐसी अन्य सभी वस्तुओं का उच्छेद जिन्हें महतर सत्य आश्रय नहीं दे सकता और उन तात्विक वस्तुओं कारूपान्तर जिन्हें हमारा मन अतिमानस और आत्म—तत्व से ग्रहण करता है, पर जिन्हें वह मानसिक अज्ञान के ढंग से अज्ञानमय रूपों में प्रस्तुत करता है।

योग समन्वय, पृ. 819, 20

— श्री अरविंद

कठिनाई में नीरव रहो

मधुर मां, जब हमारे सामने कोई कठिनाई हो तो क्या करना चाहिये?

तुम एकदम अकेले, चुपचाप बैठजाओ, नीरव होने की कोशिश करो, बुलाओ, मुझे इस तरह बुलाओ मानों मैं मौजूद हूँ। मुझे वहां बुला लो और पूरी सच्चाई और तटस्थता से अपनी कठिनाई मेरे सामने रखो; और फिर, बिलकुल नीरव रहो, बिलकुल चुपचाप रहो और परिणाम के लिये प्रतीक्षा करो।

और मेरा ख्याल है कि परिणाम आता है। यह कठिनाई की प्रकृति पर निर्भर है। अगर कोई ऐसी समस्या है जिसका हल करना है, तो हल आ जाता है, अगर वह कोई आंतरिक गतिविधि है, कोई ऐसी चीज है जो पथ—भ्रष्ट हो गयी है, तो अगर तुम पूरी सच्चाई के साथ यह करो, तो सामान्यतः, चीज को अपने रास्ते पर वापिस रख दिया जाता है; और अगर कोई निर्णय करना है, अगर कोई ऐसी चीज है जिसके बारे में तुम्हें पता नहीं कि उसे करना चाहिये या नहीं, तो अगर तुम बहुत शांत हो, तो यह भी पता लग जाता है कि उसका उत्तर हां या ना होता है; तब तर्क—वितर्क नहीं करना चाहिये, मन को यह न कहना चाहिये : “लेकिन अगर...? और फिर...”, क्योंकि तब सब कुछ धुंधला हो जाता है। तुम्हें कहना चाहिये : “अच्छा!” और इस तरह अनुसरण करना चाहिये। लेकिन इसके लिये

तुम्हें सच्चा और निष्कपट होना चाहिये, मतलब यह कि तुम्हारे अंदर पसंद—नापसंद न होनी चाहिये।

जब कठिनाई इस कारण आती है कि सत्ता का एक भाग एक चीज चाहता है और दूसरा भाग जानता है कि वह चीज न मिलनी चाहिये, तो चीज ज्यादा जटिल हो जाती है, क्योंकि जो भाग चाहता है वह उत्तर में अपनी ही इच्छा को घुसा देने की कोशिश कर सकता है। तो जब तुम बैठो तो पहले तुम्हें उसे इस बात के लिये मनाने से शुरू करना चाहिये कि वह सचाई के साथ समर्पण करे, और इसमें तुम सच्ची प्रगति कर सकते हो, तुम कह सकते हो : “अब मैं सचेतन हूँ कि मैं यह चाहता हूँ, लेकिन अगर इस कामना को छोड़ना जरूरी हो तो मैं इसे छोड़ने को तैयार हूँ।” लेकिन तुम्हें यह सिर्फ अपने सिर में ही नहीं करना चाहिये, यह चीज सचाई के साथ की जानी चाहिये, उसके बाद तुम उस तरह आगे बढ़ो जैसे मैंने अभी कहा। तब तुम जान जाओगे — जान जाओगे कि क्या करना चाहिये।

कभी—कभी लिख लेने से ज्यादा आसानी होती है; तुम कल्पना करो कि मैं उपस्थित हूँ, तब एक कागज लो, और मुझसे जो कहना चाहते हो वह उस पर लिख लो। कभी—कभी उस चीज को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का तथ्य ही तुम्हें स्थिति का सच्चा चित्र देता है, और तुम ज्यादा आसानी से उत्तर पा सकते हो। यह कई बातों पर निर्भर है, कभी—कभी यह जरूरी होता है, कभी नहीं भी होता, लेकिन अगर तुम उलझन में हो, एक प्रकार के बगूले में हो, या उससे भी बढ़कर प्राण उमड़—घुमड़ रहा हो, तो अपने—आपको कागज पर लिखने के लिये बाधित करने का तथ्य ही तुम्हें शांत कर देता है, इससे शुद्धि का काम शुरू हो जाता है।

वस्तुतः जब तुम्हें लगे कि तुम किसी—न—किसी तरह के आवेग में फंस गये हो, विशेष रूप से क्रोध के आवेग में, तो तुम्हें यह हमेशा करना चाहिये। अगर तुम अपने लिये यह निश्चित अनुशासन बना लो, कि कुछ करने या बोलने की जगह (क्योंकि बोलना भी एक क्रिया है), आवेग में आकर क्रिया करने की जगह, तुम पीछे हट जाओ और तब जैसा मैंने कहा वैसा करो, चुपचाप बैठ जाओ, एकाग्र होकर चुप, और अपने क्रोध को देखो और उसको लिख लो, तो जब तुम लिखना खतम करोगे, तब तक वह चला जायेगा— बहरहाल — अधिकतर ऐसा ही होगा।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 7, पृ. 102—103

यौगिक कर्म का प्रथम पग

कर्म और जीवन का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए मनुष्य को इन सब बाह्य प्रतीतियों से पीछे हटकर आत्मा के सत्य में प्रवेश करना होगा; यथार्थ विश्व—ज्ञान का आधार उपलब्ध कर सकने से पहले उसे आत्म—ज्ञान का आधार स्थापित कर लेना होगा।

सर्वप्रथम आवश्यक साधन है—कामना और आवेश तथा विक्षोभकारी भावावेग के, मानव मन की इस सब विक्षुब्ध तथा विकृतिकारी परिस्थिति के बोझ को आत्मा के पंखों पर से झाड़ फेंकना और इस प्रकार उसे इस सबसे मुक्त कर निर्विकार समता के आकाश में उड़ान लेना, निर्व्यक्तिक शांति के स्वर्ग में और वस्तु—विषयक अहंशून्य दृष्टि एवं अनुभूति में प्रवेश करना। क्योंकि, उस विशुद्ध ऊर्ध्वतर वायुमंडल में ही, आंधी—तूफान और बादल, बिजली से सर्वथा रहित स्तरों में ही आत्म—ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और इस जगत् का विधान तथा प्रकृति का सत्य भी व्यापक दृष्टि के साथ, अविचल, सर्वग्राही तथा

सर्व-वेधक प्रकाश में स्थिरतापूर्वक देखा जा सकता है। यह जो क्षुद्र व्यक्तित्व है, यह जो प्रकृति का असहाय यंत्र है, उसकी एक निष्क्रिय या फिर व्यर्थ-प्रतिरोधशील कठपुतली है तथा उसके सृष्टि-चक्र में एक गठित रूप है—इसके पीछे एक निर्व्यक्तिक आत्मा है जो सबमें एक ही है तथा सभी चीजों को देखती और जानती है; एक सम, तटस्थ, विश्वव्यापी उपस्थिति है जो सृष्टि का आश्रय है, एक साक्षी चेतना है जो प्रकृति को वस्तुओं की उनके अपने स्वभाव के अनुसार अभिव्यक्ति साधित करने के लिए अनुमति देती है, पर इसके लिए वह जिस क्रिया का सूत्रपात करती है उसमें न तो लिप्त होती है और न अपने को खो ही देती है। अहंभाव तथा विक्षुब्ध व्यक्तित्व से पीछे हटकर इस स्थिर, सम, नित्य, विराट् तथा निर्व्यक्तिक आत्मा में प्रवेश करना ही दृष्टिसंपन्न यौगिक कर्म करने का प्रथम पग है।

जब हम निर्व्यक्तिक विशालता के धाम इस आत्मा में शांत भाव से सुस्थित हो जाते हैं, तब, क्योंकि यह बृहत्, स्थिर, शांत एवं निर्व्यक्तिक है, हमारा दूसरा क्षुद्र मिथ्याभूत स्व, हमारा कर्मशील अहं इसकी बृहत्ता में विलीन हो जाता है और हम देखते हैं कि प्रकृति ही कार्य करती है हम नहीं, समस्त कर्म प्रकृति का ही कर्म है और इसके सिवा वह कुछ हो भी नहीं सकता।

‘गीता प्रबंध’, पृ. 472-73

—श्री अरविंद

सतत शांति

मधुर मां, हम और लोगों के प्रभाव से कैसे बच सकते हैं?

अधिकाधिक समग्र रूप से और पूर्णतया भगवान् पर एकाग्र होकर। अगर तुम पूरे उत्साह के साथ अभीप्सा करो, अगर तुम केवल भगवान् का प्रभाव ग्रहण करना चाहो, अगर तुम्हारा जो अंश दूसरे प्रभावों ने ले लिया पकड़ लिया हो उसे तुम सारे समय अपनी ओर खींचो और उसे अपने संकल्प द्वारा भगवान् के प्रभाव तले रखो, तो तुम्हें यह करने में सफलता मिलेगी। यह ऐसा काम है जो एक दिन में, एक मिनट में, नहीं किया जा सकता; तुम्हें लंबे अरसे तक, बरसों तक जागरूक रहना चाहिये; लेकिन तुम सफल हो सकते हो।

सबसे पहले तुम्हें इच्छा करनी चाहिये।

सभी चीजों के लिये, पहले तुम्हें समझना चाहिये, इच्छा करनी चाहिये, और फिर अभ्यास शुरू करना चाहिये—बहुत थोड़े से आरंभ करो। जब तुम सोचना आरंभ करते हो और सत्य क्या है इसे जानने की कोशिश करते हो... जैसे ही तुम यह समझ लेते हो कि कोई ऐसी चीज है जो सचमुच तुम्हें जीना सिखा सकती है, जिसे तुम्हारे चरित्र को गढ़ना है, जिसे तुम्हारे क्रिया-कलापों पर शासन करना है... जब तुम यह समझ जाते हो, तो तुम स्वयं को कार्य करते देख सकते हो, अपने-आपको वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देख सकते हो, आदत के छोटे-मोटे बहुतेरे बंधनों, प्रथाओं और तुमने जो शिक्षा पायी है, इन सब चीजों पर हंस सकते हो और फिर तुम प्रकाश, चेतना, भगवान् के प्रति समर्पण के लिये अभीप्सा को इन चीजों पर डालते हो। आदत के अनुसार नहीं, अपने प्राणों के आवेश के अनुसार नहीं, दूसरों से प्राप्त होनेवाले सभी प्राणिक आवेशों और व्यक्तिगत संकल्पों के अनुसार नहीं जो तुम्हें ऐसी चीजें करने के लिये उकसाते हैं जो तुम उन सबके बिना न करते, तुम भागवत प्रेरणा पाने के लिये कोशिश करते हो ताकि चीजों को ऐसे कर सको जैसे करना जरूरी हो।

इन सभी चीजों का अवलोकन करना चाहिये, उन्हें गौर से देखना चाहिये, उन्हें एक-के-बाद-एक करके भागवत ‘सत्य’ के सामने तुम उसे जिस रूप में पा सको रखते चलो—यह प्रगतिशील होता है, तुम उसे अधिकाधिक पवित्र, अधिकाधिक शक्तिशाली, अधिकाधिक स्पष्ट दृष्टि से पाते हो—उन सभी चीजों को उनके (भागवत ‘सत्य’ के) सन्मुख रख दो और एक संपूर्ण निष्कटता के साथ यह संकल्प करो कि वही तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करें और

कुछ भी नहीं। तुम इसे एक बार, सौ बार, हजार बार, लाखों बार करो और कुछ बरसों के सतत प्रयास के बाद तुम धीरे-धीरे इस बात से अवगत हो सकोगे कि आखिर तुम एक स्वतंत्र सत्ता हो—क्योंकि असाधारण चीज यह है : कि जब तुम भगवान् के प्रति पूरी तरह समर्पित होते हो तभी तुम पूरी तरह स्वतंत्र होते हो, और स्वतंत्र होने की यही परम अवस्था है, केवल भगवान यह ही होना; तुम सम्पूर्ण विश्व से मुक्त होते हो क्योंकि तुम केवल उन्हीं को चाहते हो। और यह समर्पण उच्चतम मुक्ति है, तुम अपने तुच्छ व्यक्तिगत अहंसे भी मुक्त हो जाते हो और सभी चीजों में यह सबसे अधिक कठिन है—और सबसे अधिक सुखद भी, यही एकमात्र वस्तु है जो तुम्हें सतत शांति, अविच्छिन्न आनन्द दे सकती है।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड 7, पृ. 216–217

अतिमानसिक परिवर्तन की ओर

प्रश्न : मुझे सन्देह है कि क्या मैं अतिमानसिक चेतना की उपलब्धि तक पहुंच पाऊंगा?...

1. एक निश्चल—नीरव मन चेतना को सहज बनाता है।
2. यदि तुम मन को निश्चल—नीरव रखो और मेरे और श्रीमां तथा सत्य—प्रकाश (ऋत्-चित्) और शक्ति के सम्पर्क में रहो तब चीजें आसान और ऋजु हो जायेंगी—उपलब्धि प्राप्त करने का केवल यही एक तरीका है।
3. यह सोचना कि यह तरीका तम्हें अतिमानसिक उपलब्धि तक नहीं ले जायेगा, भूल होगी। केवल यही रास्ता अतिमानसिक परिवर्तन की ओर ले जाता है।
4. क्योंकि तुम सन्देह करने लगते हो, दूसरे रास्तों और दूसरे (निम्नतर) अनुभवों के पीछे जाने लगते हो कि तुम दुविधा में पड़ जाते और अनिश्चितियों से भर जाते हो।
5. एक ही रास्ते पर—जो तुम्हें मेरे द्वारा दिखाया गया है—बने रहो। इस पथ का अनुसरण करने पर ही तुम जो विस्तार चाहते हो वह तुम्हें मिल सकता है—यदि तुम बहुत सारे रास्तों की ओर दौड़ो तो यह चीज दुविधा ले आयेगी, विस्तार नहीं।
6. यहां निम्न प्रकृति में बहुत—सी चीजें हैं, लेकिन वे असामंजस्य की स्थिति में हैं, इसलिए उन सबके पीछे भागने का तात्पर्य है—असामंजस्य, दुविधा संगठन की कमी और युद्ध। ऊर्ध्व प्रकृति (अतिमानस) में एक महानतर विस्तार है, निम्न प्रकृति से कहीं अधिक; वहां सब कुछ सामंजस्यमय, संगठित और प्रशान्त है। इस कारण उस पथ का अनुसरण करो जो उच्चतर अतिमानसिक प्रकृति की ओर ले जाता है।
7. अधीर मत होओ क्योंकि पूर्ण ज्ञान एक साथ अचानक तुम तक नहीं आता। निश्चल—नीरव मन में सम्पर्क बनाओ, सच्चे ‘प्रकाश’ और ‘शक्ति’ को कार्य करने दो और समय के साथ—साथ समस्त ज्ञान आयेगा और ‘सत्य’ तुम्हारे अन्दर विकसित होगा।

पूर्ण स्थिरता

मनुष्य भी केवल तभी पूर्ण होता है जब वह ब्रह्म की उस पूर्ण स्थिरता और निष्क्रियता को अपने अन्दर पा लेता है और उसके द्वारा उस दिव्य सहनशीलता और उसी दिव्य आनन्द के साथ एक उन्मुक्त तथा अक्षय क्रियाशीलता को अवलम्ब देता है। जिन लोगों ने अन्तर में इस भाँति 'प्रशांति' अधिकृत कर ली हैं वे सदा देख सकते हैं कि उसकी निश्चल-नीरवता के अन्दर से ही विश्व में क्रियाशील शक्तियों का चिर स्रोत प्रवाहित होता है। अतः निश्चल-नीरवता का स्वरूप विश्व-क्रियाशीलता का प्रत्याख्यान है, यह कहना उस स्वरूप का सत्य नहीं है। इन दो स्थितियों की जो पारस्परिक विषमता प्रतीत होती है, वह सीमित मन की भूल है। कारण, मन स्वीकृति और अस्वीकृति के पैने विरोध का अभ्यस्त होता है और अचानक एक छोर से दूसरे छोर पर जा पहुंचता है वह ऐसी व्यापक चेतना को धारणा करने में असमर्थ होता है जो इतनी विशाल और सबल हो कि दोनों का एक साथ ही आलिंगन कर सके। निश्चल-नीरवता जगत्का प्रत्याख्यान नहीं करती, वह तो उसकी भर्त्री है, बल्कि, कर्म-प्रवृत्ति और कर्म-निवृत्ति दोनों को समान निष्पक्ष रूप से अवलम्ब प्रदान करती हैं और उस सामंजस्य का भी अनुमोदन करती हैं जिसके द्वारा जीव कर्म करता हुआ भी मुक्त और स्थिर रहता है।

दिव्य जीवन, पृ. 32, 33

— 'श्रीअरविंद'

ॐ नमो भगवते।

ये तीन शब्द। मेरे लिए इनका अर्थ था :

ॐ-मैं परम प्रभु से याचना करती हूँ।

नमो-उन्हें नमस्कार।

भगवते-मुझे दिव्य बनाओ।...

मेरे लिए इसमें सब कुछ शान्त करने की शक्ति है।

-श्रीमां

1969

No words - acts